हिंदी नवजागरण के अग्रदूत



चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

प्रतिनिधि संकलन

संपादक विश्वनाथ त्रिपाठी
प्रधान संपादक नामवर सिंह

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या.........   आगत संख्या 102756

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

हिंदी नवजागरण के अग्रदूत

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

प्रतिनिधि संकलन



संपादक
विश्वनाथ त्रिपाठी

प्रधान संपादक
नामवर सिंह



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-2031-9

पहला संस्करण : 1997 (*शक 1918*)

Chandradhar Sharma 'Guleri' : Pratinidhi Sankalan (*Hindi*)
रु. 33.00
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली – 110 016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

संपादकीय वक्तव्य

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से भारत के नवशिक्षित बौद्धिकों में एक नई चेतना का उदय हुआ जिसके अग्रदूत राजा राममोहन राय माने जाते हैं। इस चेतना को यूरोप के "रिनेसाँस" के वज़न पर अपने देश में कहीं "पुनर्जागरण" और कहीं "नवजागरण" कहा जाता है। चेतना की यह लहर देर-सबेर कमोबेश भारत के सभी प्रदेशों में फैली। किंतु अधिक चर्चा बंगाल नवजागरण और महाराष्ट्र प्रबोधन की ही होती है। अन्य प्रदेशों की तरह हिंदी प्रदेश में भी नवजागरण की यह लहर उठी किंतु जरा देर से – उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में,1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की पराजय के लगभग एक दशक बाद और उसका प्रसार भी बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दो दशकों तक बना रहा। हिंदी नवजागरण की चर्चा अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय बौद्धिकों के हल्के में कम ही सुनाई पड़ती है; यहां तक कि कुछ लोग उसके अस्तित्व को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। कारण शायद यह हो कि हिंदी नवजागरण संबंधी अधिकांश रचनाएं हिंदी में ही हुईं; अंग्रेजी में उन्हें सुलभ कराने के प्रयास भी बहुत कम ही हुए। विडंबना तो यह है कि स्वयं हिंदी जानने वाले आधुनिक बौद्धिक भी,अपनी इस समृद्ध विरासत से भलीभांति परिचित नहीं हैं। अभी तक अधिकांश रचनाएं पुरानी पत्रिकाओं और दुर्लभ पोथियों में छिपी पड़ी हैं जो शोधकर्ताओं के लिए भी सहज सुलभ नहीं हैं। "हिंदी नवजागरण के अग्रदूत" पुस्तकमाला की योजना इसी आवश्यकता की पूर्ति की दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

हिंदी नवजागरण में अखिल भारतीय नवजागरण की बहुत-सी सामान्य विशेषताओं के साथ कुछ अपनी क्षेत्रीय विशेषताएं भी हैं। कहना न होगा कि 1857 के ग़दर का केंद्र हिंदी प्रदेश ही था, इसलिए हिंदी नवजागरण की प्रकृति पर ग़दर की स्मृति की छाया पड़ना स्वाभाविक ही था। ग़दर की गूंज नवजागरण का अलख जगाने वाले अधिकांश छोटे-बड़े तत्कालीन लेखकों की रचनाओं में दूर तक सुनाई पड़ती है। हिंदी नवजागरण का बीज मंत्र फूंकने वाले प्रथम अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे,जिनकी मुख्य प्रतिज्ञा यह थी कि "स्वत्व निज भारत गहै।" भारतेन्दु का "स्वत्व" वही था जिसे आज "जातीय अस्मिता", "जातीय पहचान" और अंग्रेजी में "आइडेंटिटि" कहते हैं। भारतेन्दु के साथ ही उस दौर के सभी हिंदी लेखकों के लिए अपनी "पहचान" की पहली शर्त थी अपनी भाषा : "निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल"! इस आग्रह का कारण शायद यह था कि अन्य प्रदेशों में जहां फ़ारसी के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं को कचहरी जैसे सरकारी दफ्तरों में मान्यता मिल गई थी,हिंदी – केवल हिंदी ही इस अधिकार से शताब्दी के अंतिम दशक तक वंचित रही। इस स्थिति में हिंदी

नवजागरण के लेखकों को अंग्रेजी के साथ साथ अपनी सगी बहन उर्दू के वर्चस्व के विरुद्ध भी संघर्ष करना पड़ा।

स्वभाषा के आग्रह की परिणति "स्वदेशी" में हुई जिसको अभिव्यक्ति मिली अंग्रेजी राज्य की आर्थिक-औद्योगिक नीति के विरुद्ध स्वदेशी उद्योग धंधों के विकास पर बल देने में। उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु के 'बलिया वाले व्याख्यान' से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'संपत्ति शास्त्र' (1908) नामक ग्रंथ तक इस स्वदेशी पर आग्रह दिखता है जिसमें आर्थिक स्वाधीनता के साथ साथ राजनीतिक स्वाधीनता की भी गूंज निहित है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदू नवजागरण मुख्यतया "सांस्कृतिक" था और अधिकांश लेखन स्वदेशी संस्कृति के उत्थान को दृष्टि में रखकर किया गया। इस प्रक्रिया में अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत को बचाए रखने के साथ ही संग्रह-त्याग की दृष्टि से उसकी निर्मम समीक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। फिर तो वेद, पुराण, धर्मशास्त्र से लेकर संतों और भक्तों आदि सबको इस समीक्षा की प्रक्रिया से गुजरना पड़ा। आत्म समीक्षा जितनी पीड़ादायक है उतनी ही जटिल भी। इसलिए यदि धर्म-तत्व-विचार की प्रक्रिया में नवजागरण कालीन लेखकों के मत और निष्कर्ष भिन्न दिखाई पड़ें तो आश्चर्य न होना चाहिए। इसी प्रकार जात-पांत, धर्मों और संप्रदायों के आपसी संबंध, स्त्रियों की स्थिति, विधवा-विवाह, बाल-विवाह आदि से संबंधित प्रश्नों पर भी हिंदी नवजागरण के लेखक एकमत न थे। किंतु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि पुरानी परिपाटि में कुछ-न-कुछ परिवर्तन या सुधार का अनुभव अधिकांश हिंदी लेखक करते थे। हिंदी के मंच पर स्वामी दयानंद के प्रवेश और आर्य समाज के उदय के साथ सनातनियों और आर्य समाजियों के बीच जो लंबे शास्त्रार्थ का क्रम चला, उसका प्रभाव कुछ-न-कुछ हिंदी लेखकों पर भी पड़ा किंतु रहा बहुत कुछ साहित्यिक संस्कार की मर्यादा के अंदर ही। इस सार्वजनिक वाद-विवाद की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि नवजागरण कालीन सभी लेखकों ने अपने समय के सभी ज्वलंत सामाजिक प्रश्नों पर जम कर लिखा। उस दौर के सभी लेखक एक तरह से लोक समीक्षक थे और हिंदी गद्य सार्वजनिक जीवन की व्यापक हलचल से ओतप्रोत और अनुप्राणित था।

हिंदी नवजागरण की यह भी एक विशेषता है कि उसके अग्रदूतों में कोई धनाढ्य वर्ग का नहीं था। थे सभी कम पूंजी वाले बस खाते-पीते। चाहे वे ग्राम मूल के किसान हों या फिर शहर में आ बसे छोटी-मोटी चाकरी करने वाले किरानी। अधिकांश छोड़ी-बहुत अंग्रेजी जानने वाले किंतु कुछ अंग्रेजी शिक्षा से बाल बाल बचे हुए भी। शहर में रहते हुए भी गांवों से पूरी तरह जुड़े हुए। अपनी परंपरा में गहरी जड़ें सब की थीं। अधिकांश लेखक पत्रकार थे और खुद ही अपनी पत्रिका भी निकालते थे, किंतु कुछ ऐसे भी थे जो किसी व्यापारी द्वारा निकाले जाने वाले अखबार में काम करते थे। सभी ब्राह्मण न थे किंतु अन्य कुछ प्रदेशों की तरह लेखकों के बीच ब्राह्मण-अब्राह्मण का भेदभाव भी नहीं दिखता। हिंदी नवजागरण की विशिष्ट प्रकृति को समझने के लिए एक हद तक लेखकों का यह सामाजिक आधार भी उपयोगी हो सकता है। किंतु इस बात को रेखांकित करना आवश्यक है कि हिंदी नवजागरण के अग्रदूतों

में प्रत्येक का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व था और सब की पहचान इतनी अलग अलग थी, कि उन्हें उनकी भाषा-शैली से ही पहचाना जा सकता है। इसका आभास "पुस्तकमाला" का प्रत्येक पुष्प स्वयं देगा।

अंत में यह "पुस्तकमाला" सामान्य पाठकों के हाथ में इस आशा के साथ रखी जा रही है कि इनमें कहीं-न-कहीं आज के लिए भी प्रासंगिक विचार-स्फुल्लिंगों के मिल जाने की संभावना है।

14.12.95 — नामवर सिंह

भूमिका

पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' सामान्य हिन्दी पाठकों के बीच "उसने कहा था" नामक लोकप्रिय कहानी के रचनाकार के रूप में विख्यात हैं। जरूरी नहीं कि किसी नई प्रवृत्ति की सूचना देने वाली रचना उत्तम हो। लेकिन "उसने कहा था" रचनात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से भी श्रेष्ठ कोटि की है। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने इस कहानी की उच्छ्वसित प्रशंसा की है और मर्यादा में रहकर प्रेम की व्यंजना करने वाली अद्वितीय कहानी कहा है। गुलेरी जी ने कुल तीन कहानियां लिखी हैं – "उसने कहा था" के अलावा दो कहानियां हैं – "सुखमय जीवन" और "बुद्धू का कांटा"।

मर्यादित प्रेम तीनों कहानियों की विशेषता है। "बुद्धू का कांटा" भी उत्कृष्ट कहानी है। उनके व्यक्तित्व का एक और पक्ष है जिससे हिन्दी और संस्कृत के गंभीर विद्वान तो परिचित हैं किंतु आज के सामान्य पाठकों के सम्मुख उसे प्रस्तुत करना शेष है।

गुलेरी जी संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के धुरंधर विद्वान थे। अंग्रेजी में निष्णात थे। निबंधों को देखकर प्रकट हो जाता है कि उर्दू, फारसी में भी बहुत अच्छी गति थी। उनकी विद्वता को प्रमाणित करने के लिए केवल यही तथ्य पर्याप्त है कि पं. रामावतार शर्मा के रिक्त स्थान पर उनकी नियुक्ति हुई थी। वे उद्भट विद्वान थे। भारत का अतीत उन्हें हस्तामलक था। अभिभूत करने वाली बात यह है कि इतने पर भी वे अतीत जीवी नहीं थे। अतीत से अधिक उन्हें वर्तमान आकृष्ट करता था। और साथ ही उत्कृष्ट सर्जक थे। यह दुर्लभ संयोग कम घटित होता है कि इतना बड़ा विद्वान, इतना जिज्ञासु लोक-संग्रही हो। हिन्दी में इसके प्रतिमान तुलसीदास हैं। खड़ी बोली में पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' और उनके बाद पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी। उनके लेखन से उनका देश-प्रेम एवं क्षेत्र-प्रेम व्यंजित है। इस देश-प्रेम एवं क्षेत्र-प्रेम की प्रमुख वाहिका उनकी भाषा है जिसकी यत्किंचित चर्चा यथाप्रसंग की जाएगी। अगाध विद्वता और सर्जनशीलता के संयोग से उनके लेखों, निबंधों, संपादकीयों, कविताओं यहां तक कि कहानियों में भी प्रसंग-गर्भत्व की प्रवृत्ति आ गई है। यह प्रवृत्ति सर्वत्र उत्कर्ष विधायक नहीं होती। प्रसंग-गर्भत्व जानकारी के कारण आती है। जिसे वह विशिष्ट जानकारी नहीं है वह आस्वाद नहीं ग्रहण कर पाएगा और पाठक-वर्ग अपेक्षाकृत सीमित या विशिष्ट हो जाएगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गुलेरी जी के निबंधों की इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था – "अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथा-प्रसंगों की ओर विनोदपूर्ण संकेत करती हुई इनकी वाणी चलती थी। इस प्रसंग गर्भत्व के कारण इनकी चुटकियों का आनंद अनेक विषयों की जानकारी रखने वाले पाठकों को ही विशेष मिलता था।" (गद्य साहित्य का प्रसार, हिं.सा.इ.)

अपने एक लेख में गुलेरी जी कहते हैं – "हाय ! जो संस्कृत नहीं जानते उन्हें इसका मर्म कैसे समझाऊं।"

गुलेरी जी की प्रतिभा बहुवस्तुस्पर्शिनी थी। वे जिस द्विवेदी युग के लेखक हैं, वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में ज्ञान-साधना का युग था। गुलेरी जी इस युग के प्रतिनिधि लेखक हैं। वे साहित्य की अनेक विधाओं में सिद्धहस्त थे। अपने समय की राजनैतिक, वैज्ञानिक, आर्थिक, सांस्कृतिक प्रगति पर उनकी निगाह थी और उन सब पर वे अपनी राय प्रकट करते थे। समकालीन विषयों पर उनकी टिप्पणियां उनके भाव-बोध का दर्शन कराती हैं। छोटी छोटी घटनाओं, लोकवार्ताओं, साहित्यिक उक्तियों आदि पर उनकी लघु – दीर्घ टिप्पणियां, उनके चिन्तन एवं भाव-प्रवृत्तियों की झांकी प्रस्तुत करती हैं। 'समालोचक' के संपादक के रूप में वे देश के सांस्कृतिक नेता के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। उनका सरोकार व्यापक है, उनकी चिंता गहरी है, सुदूर वैदिक काल से लेकर समकालीन जीवन तक की साहित्यिक यात्रा का साक्षी उनका लेखन-चिंतन है। लेखन-चिन्तन उत्कट देश-प्रेम के रस से सिक्त है। वह देश-प्रेम ज्ञान एवं विवेक से रूप-ग्रहण करता है।

गुलेरी जी आधुनिकता के अग्रदूत हैं। भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित आधुनिक बोध के स्वरूप का वे विकास करते हैं। उस आधुनिकता की अर्थात् मानवतावाद की गहरी जड़ें तलाशते हैं। वस्तुतया वे ज्ञान-राशि के संचित भण्डार को अत्यधिक समृद्ध करते हैं। जिस इतिहास और निरंतरता की वात हम आज करना सीख रहे हैं, गुलेरी जी उसके प्रमाण-पुरुष हैं।

ज्ञान की साधना ज्ञेय के प्रति जिज्ञासा के कारण की जाती है। जिज्ञासा अपने आप में कोई तटस्थ मनोविकार नहीं। वह ज्ञेय के प्रति झुकाव है – इच्छा है। अगर यह जिज्ञासा देश-प्रेम का सहचर हो तो मार्मिकता का क्षेत्र अतीव व्यापक हो जाता है। जिज्ञासु देश-प्रेमी सुदूर अतीत से लेकर अपने समय तक के इतिहास की मार्मिक भाव-भूमि पर संचरण करता है। वाजपेय, राजसूय, यक्ष, उर्वशी, शैशुनाक, मृतियां, प्राकृत, अपभ्रंश से लेकर हिन्दी भाषा के उपन्यास लेखकों तक की ज्ञानभूमि उनकी साधना भूमि भी है, भाव-भूमि भी। उनके ज्ञान-मार्ग पर भाव-सरोवर भी हैं। उनका एक लेख है 13 पंक्तियों का – "पानी पीकर रह जाती हैं।" गुलेरी जी "सरधा" (श्रद्धा) शब्द का अर्थ खोल रहे हैं लोक प्रयोग के आधार परः

पहले "दोहद" और "सरधा" की चर्चा हो चुकी है। एक प्राकृत-गाथा में दोनों शब्द साथ आए हैं इसलिए "सरधा" का अर्थ तो खुलता ही है, साथ ही साथ भाव भी ऐसा है कि दिल की कली खिल जाती है –

दुग्गय धरम्मि धरिणी रक्खन्ती आजलत्तणं पइणो।
पुच्छिय दोहल सद्धा उपयं चिय दोहलं कहइ॥

(दुर्गत घर में गृहिणी पति व्याकुलता बचाने को दोहद – सरधा पूछे जल ही साथ बतलाती)

दिन बुरे आ गए हैं। घर में दरिद्रता पसर गई है। गृहलक्ष्मी के गर्भ है। पति पूछता है कि तेरी क्या सरधा है ? काहे पर मन चलता है ? बेचारी पति की आर्थिक दशा जानती है।

उसके दु:ख को घटाना चाहती है। क्या करे! मन मारकर कहती है कि मेरी सरधा पानी ही पर है। कवि ने कितना कह डाला! और जो न कहकर भी कह दिया वह कितना है!!!

प्राकृत-गाथा का हिन्दी अनुवाद गुलेरी जी का है। यह स्मरण करना प्रासंगिक है कि बाद में "काव्यधारा" में राहुल ने इसी शैली का अनुगमन करते हुए अपभ्रंश पंक्तियों का रू-ब-रू पद्यानुवाद किया।

उद्धृत लेख से ज्ञान और संवेदन की एकात्मकता का बोध हो जाता है। गुलेरी जी सरस ज्ञान-साधक थे। आचार्य शुक्ल ने "उसने कहा था" की प्रशंसा करते हुए "भावुकता के चरम उत्कर्ष" की बात की है। वह उनके लेखन में सर्वत्र विद्यमान है। शायद कहानियों से ज्यादा निबंधों में। वह वस्तुतया ज्ञान को सहज बना सकने की दुर्लभ क्षमता का द्योतक है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी इस संदर्भ में कबीर की यह पंक्ति उद्धृत किया करते थे : चढ़िए हाथी ज्ञान को सहज दुलीचा डाल। कहा जाता है – "काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम" ज्ञान के साथ विनोद का ऐसा संयोग द्विवेदी युग के ज्ञान-साधक लेखकों मे दुर्लभ है। लगता है भारतेन्दु की प्राणधारा गुलेरी जी की ज्ञान-साधना में समा गई है।

गुलेरी जी का विशिष्ट दृष्टिकोण है। अतीत, मध्यकाल, समकालीन, जीवन-आचरण सबको वे विशिष्ट दृष्टिकोण से देखते हैं। यह नहीं कि अतीत पर विचार करते समय अतीत जीवी हो जाएं, मध्यकाल पर विचार करते समय मध्यकालीन और अपने समय की समस्याओं पर विचार करते समय आधुनिक। वे ज्ञान-विज्ञान की सभी विधाओं का अध्ययन करते समय मनुष्य को केंद्र में रखते हैं। चूंकि वे घटनाओं, स्थितियों, रीति-रिवाजों, संस्थानों को इतिहास-प्रवाह में देखते हैं, कार्य-कारण की श्रृंखला में जोड़ते हैं, अतः कह सकते हैं कि उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है, वे "बाबा वाक्यं प्रमाणं" मानने वाले विद्वान नहीं हैं। वे पाखंड का उद्घाटन करने में प्रवृत्त होते हैं। वे अनावश्यक रहस्याभास को छील कर सच्ची बात को सहज तौर पर सामान्य जन-सुलभ बना देते हैं। अपने ज्ञान की धौंस जमाने के लिए वे बात को अनावश्यक तौर पर इधर-उधर नहीं घुमाते। सरल वाक्यों में, आडम्बर रहित भाषा में प्रकट करते हैं। जैसे कोई समर्थ व्यक्ति रास्ते की भीड़ को बलात् इधर-उधर ठेलकर जल्दी से अपने गंतव्य का रास्ता बना ले। वे व्यर्थ के झमेले में न पड़कर कथ्य कहते हैं। ऐसा वही कर सकता है जिसे इस बात का पक्का भरोसा है कि वह कथ्य को जानता है। अपनी बात को सामान्य जन-सुलभ बनाने के लिए वे जानी-पहचानी स्थितियों का सादृश्य-विधान खड़ा करते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के विकास को वे यूं समझाते हैं –

"हिंदुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे संस्कृत कहते हैं, परंतु जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मंजी, छटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस "कृत" से वह संस्कृत हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बचा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरौने के बांध से उसमें सारा जल खेंच लिया गया है; उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली, छोटी-बड़ी पथरीली, रेतीली नदियों का

पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह अविच्छिन्न रखने के लिए कैसा कुछ आंदोलन मचाया या नहीं मचाया हम जान नहीं सकते। सदा इस संस्कृत नहर को देखते-देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर समतल और सूत के नपे हुए किनारों को छोड़कर जल-स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा, कहीं गंदला, कहीं निथरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति – हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण का आरंभ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति है, उससे आया, इसलिए प्राकृत कहलाया – यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।"

अगर जीवन के प्रति वस्तुवादी दृष्टिकोण न हो तो भाषा के प्रति भी न होगा। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण लिखा, संस्कृतवादी दृष्टिकोण से। लिखा – "प्रकृति : संस्कृतम्। तम भवं तत आगतं वा प्राकृतम्"। गुलेरी जी का कहना है कि यह नहर को नदी समझना – कहना है। संस्कृत तो संस्कार की गई भाषा है, वह प्राकृत का संशोधित रूप है। संस्कृत को प्रकृति या मूल मानने वाले वैयाकरणों ने क्रम ही उलट दिया है। इतिहास-बोध सनातनवाद का विरोधी है। जो आज है वह न हमेशा से ऐसा था और न हमेशा ऐसा रहेगा। परिवर्तन के नियमों की खोज से इतिहास-बोध होता है। गुलेरी जी का वस्तु-बोध इतिहास-बोध का सहचर है।

गुलेरी जी बड़े-से-बड़े व्यक्ति के प्रशंसक तो हो सकते हैं – अभिभूत शायद वे किसी से नहीं होते। भाषा-प्रेम और व्याकरण-ज्ञान ने उन्हें पाणिनि का प्रशंसक बनाया है। पाणिनि पर उन्होंने बहुत कम लिखा है लेकिन जिस आत्मीयता से लिखा है वह अद्वितीय है। वे पाणिनि द्रष्टा की भूमिका में पाणिनि पर लिखते हैं। मानों उन्होंने पाणिनि को पढ़ा ही नहीं है, उन्हें देखा भी है, उनके साथ रहे भी हैं, और वे पाणिनि पर विचार भी करते हैं – विचार करते समय तटस्थ हो जाते हैं। जानकारी और आत्मीयता और वैचारिक तटस्थता का ऐसा संयोग अन्यत्र दुर्लभ है। इतिहास-बोध ने उन्हें इतिहास-प्रवाह का द्रष्टा बना दिया है जहां वे सब कुछ एक साथ देखते हैं, व्यक्तियों और सूत्रों का अंतस्संबंधित प्रवाह – इसीलिए आत्मीय भी होते हैं और तटस्थ भी बने रहते हैं – अभिभूत होने का सवाल ही नहीं पैदा होता।

पाणिनि पर लिखित प्रारंभिक अंश में तथ्य-कथन ही प्रशंसा बन गया है। पाणिनि की विशेषताओं की सूचना संक्षिप्ति के साथ अनेक छोटे छोटे वाक्यों में क्रमबद्ध है। गहरी जानकारी के बिना यह असंभव था। गहरी जानकारी ही अनुकूलता पाकर आत्मीयता में पर्यवसित होती है।

तथ्य-कथन प्रशंसा का रूप लेकर उदात्त का रूप कैसे धारण कर लेता है – यह देखना हो तो पुरानी हिन्दी का पाणिनि पर लिखा गया अंश पढ़िए। अपनी ओर से यह भी लिखा "पाणिनि का मान ऋषिवत् हुआ"। वह था ही ऐसा, "जो कुछ कहिय थोर सब तासू"।

पाणिनी ऋषिवत् हुआ तो क्या हुआ। जगत रीति सर्वत्र है। ऐसा भी क्या कि उसके संबंध में विनोद न किया जा सके।

"कहते हैं कि पीर स्वयं नहीं उड़ते, मुरीद उनके पर लगा देते हैं। पाणिनि ने कहीं स्वयं दावा नहीं किया है कि जिन चौदह सूत्रों में वर्णमाला का क्रम बदलकर मैंने इतना संक्षेप और क्रम सौकर्य पाया है उसका मुझे इलहाम हुआ है, किंतु बात चल गई कि महेश्वर के डमरू के चौदह बार बजने से पाणिनि ने उन्हें पाया। करामातों पर लोगों का विश्वास हो जाता है, पुरुष परिश्रम पर नहीं। कन कन जोड़ने से लखपति होते हैं, यह कोई नहीं मानता, किंतु बाबा जी मंत्र के बल से हंडिया में भरे गहनों को दूना कर देते हैं, या एक नोट के दो कर देते हैं – यह मानने को गांव का गांव तैयार हो जाता है।"

गुलेरी जी के विनोद का आधार जानकारी है। वे भारतीय संस्कृति की विकास-यात्रा के विराट परिदृश्य के द्रष्टा हैं, उससे सुपरिचित हैं – इसलिए उन्हें किसी बात को समझने के लिए मिथकों, अलौकिक शक्तियों पर विश्वास करने की जरूरत नहीं। पूर्वाचार्यों, कवियों के प्रति उनमें जो श्रद्धा और सम्मान है वह समझ और विवेक के कारण है। इस श्रद्धा और सम्मान में अलौकिकता या अंधभक्ति का कोई स्थान नहीं। अंधभक्ति और अलौकिकता से जुड़ी किंवदंतियां उनकी विनोदवृत्ति को उकसाती हैं। सामाजिक विषयों पर विचार करते समय जहां यह अंधभक्ति देश, जाति के हित में बाधक दिखलाई पड़ती है वहां गुलेरी जी की विनोदवृत्ति क्षोभ या घृणा में बदल जाती है। अपनी बात पर भरोसा होने के ही कारण अपने विरोधियों का उत्तर देते समय विवाद में भी गुलेरी जी विनोद करते हैं। विरोधियों को वे अपने से इतना कमतर पाते हैं कि वे विरोध नहीं विनोद के आलंबन होते हैं। गुलेरी जी के विनोद में द्वेष तो होता ही नहीं, अधिकतर सहानुभूति ही होती है। बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री का जो संस्मरण उन्होंने लिखा है उसमें खत्री जी की यातना अधिक व्यंजित हुई है। उनकी ग्रंथियों को ऐसे रखा गया है मानों लेखक कोई मनोचिकित्सक हो। लेख के प्रारंभ में भवभूति का जो श्लोक उद्धृत किया गया है, वह इस विषय में ध्यान देने योग्य है। गुलेरी जी की विनोदवृत्ति बड़े-बड़े लोगों, पुराण प्रसिद्ध ऋषियों-मुनियों के स्खलन का उल्लेख करने में विशेष रस लेती है जैसे बुजुर्गों से ठिठोली की जा रही हो। "काशी की नींद और नूपुर" निबंध में उन्होंने काशी की वेश-वधुओं द्वारा ऋषियों के नूपुर युक्त पैरों के आघात की चर्चा रस लेकर की है।

गुलेरी जी अतीत को कार्य-कारण की परंपरा के रूप में देखते हैं। वे अतीत में वर्तमान देखते हैं और वर्तमान में अतीत। "पुरानी हिन्दी" का प्रारंभ वे गंगा के जिस रूपक से करते हैं वह उनकी दृष्टि का सूचक है। अतीत और वर्तमान एक ही धारा के दो रूप हैं। इसीलिए पुरातनवादी भी उनके हास्य विनोद के पात्र बनते हैं। इस दृष्टि का भरपूर प्रभाव उनकी भाषा पर देखा जा सकता है। तत्सम शब्दों के साथ तद्भव, देशी, क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग उनसे सीखना चाहिए। अनेक लेखों में उन्होंने प्राचीन शब्दों, उक्तियों की तर्कसंगत व्याख्या करके उनका अर्थ स्पष्ट किया है। व्याख्या क्या है – अतीत को वर्तमान में लाकर खड़ा कर देना और उसे सुपरिचित बना देना। यह हिन्दी जाति को उसका सांस्कृतिक उत्तराधिकार प्रदान

करना है। गुलेरी जी ऐसे प्राच्यविद् साधक दाता हैं।

अतीत वर्तमान उनके यहां जैसे एक हैं, वैसे ही उनकी भाषा में तत्सम्, तद्‌भव, देशी, क्षेत्रीय, मुहावरे सब घुले-मिले हैं। अलग कटे रहने का आग्रह अहंकार या संकीर्णता से आता है। अंतस्संबंधता का भाव सबको एकत्व में घोल देता है। कछुआ धर्म की भाषा देखिए :

(वैदिक आर्य) पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ कर आए और यहां "भ्रातृव्यस्य बधाय, सजतानां मध्येमेष्ठ्याय" देवताओं को आहुति देने लगे।...जैसे आजकल लखपति करोड़पति कहलाते हैं वैसे तब "शाग्र" "सहसग्र" कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने "नवग्वाः" "दशग्वाः" पितरों से शरमाते न थे। आजकल के मेवा बेचने वाले पेशावरियों की तरह कोई कोई सरहदी यहां पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमाप्रांत पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनों से हुआ करती है।

वैदिक आर्यों के कार्य-कलाप को तरकारियों को बेचने में हुज्जत करने वाली कुंजड़िनों के बिंब से समझाने का साहस वही कर सकता है जो अतीत और वर्तमान की सांस्कृतिक अंतस्सूत्रता को संपूर्णता में देख सकता है। भाषा इस अंतस्सूत्रता का रूप है – यहां तत्सम, तद्‌भव, देशी में अलगाव नहीं। सब मिलाकर अतीत से वर्तमान तक की विविधता को आकार देते हैं।

गुलेरी जी के निबंधों को पढ़ते समय जिस अन्य प्राच्यविद् निबंधकार की याद बार बार आती है, वे हैं पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी।

गुलेरी जी के निबंधों की विशेषता "प्रसंग गर्भत्व" है जिसका उल्लेख पं. रामचन्द्र शुक्ल ने पहले पहल किया था। यह प्रसंग गर्भत्व उनकी विद्वता के कारण है। निबंधों ही नहीं कहानियों में भी उनकी यह विशेषता पाई जाती है। गुलेरी जी के निबंधों में यथावसर अन्य विधाओं का भी उल्लेखनीय समावेश या उपयोग है। कहीं नाटकीयता है, कहीं काव्यत्व, कहीं कहानीपन। हमारे समय में हरिशंकर परसाई के व्यंग्य निबंधों में अनेक विधाओं का समावेश पाया जाता है। मेरा विचार है कि नाटकीयता का गुण उनके निबंधों में सर्वाधिक उल्लेखनीय है और यही उनके निबंधों को इतना पठनीय बनाता है।

विषयवस्तु की दृष्टि से गुलेरी जी के निबंधों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। पुरातत्व, विज्ञान, समाजशास्त्र, साहित्य, राजनीति, समसामयिक विषय, खेलकूद, धर्म-दर्शन – इत्यादि प्रायः सभी विषयों पर उन्होंने लिखा है। उन्होंने संस्मरण भी लिखे हैं, संपादकीय भी, पाठक के रूप में पत्र भी, समालोचना भी।

अपभ्रंश को "पुरानी हिन्दी" कहना उनके जैसे प्रतिभाशाली, अगाध विद्वान, भाषाविद् का ही काम था। अपभ्रंश के दोहों का हिन्दी में उन्होंने असिधाराव्रती अनुवाद किया है। अपभ्रंश के क्षेत्र में उनका पथभृत कार्य आज भी गतकालिक नहीं हुआ है। सच्ची बात यह है कि आज तक उन्हीं की बातें दुहराई जाती रही हैं। शैली ऐसी कि अपभ्रंश के विषय में उनके विद्वत्तापूर्ण गंभीर लेखन को पढ़ने में कहानी या उपन्यास का आनंद आता है। संस्कारी पाठकों

को यहां भी पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी याद आएंगे।

गुलेरी जी ने हिन्दी में "इंटरव्यू" विधा का प्रथम उपयोग किया। उन्होंने पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर से "समालोचक" के लिए इंटरव्यू लिया।

गुलेरी जी अपने समय के थे। उनकी विद्वता अपने समय के लिए संदर्भवती थी। उनके युग में मानवता एवं साधना का रूप वही नहीं रह गया था जो पाणिनि के युग का था। "बुद्धू का कांटा" में एक मुस्लिम-पात्र है टट्टू वाला। नवाब उस पर जुल्म करता है, उसकी बीवी पर जुल्म करता है। वह कचहरी में फरियाद नहीं करता क्योंकि "कचहरियां गरीबों के लिए नहीं हैं, बा छा वे तो सेठों के लिए हैं"। कहानी का नायक रघुनाथ उसकी करुण-कथा सुनकर सोचते हैं, "कितने गरीबों का इतिहास ऐसी चित्र-घटनाओं की धूप-छाया से भरा हुआ है। पर हम लोग प्रकृति के इन सच्चे चित्रों को न देखकर उपन्यासों की मृग-तृष्णा में चमत्कार ढूंढ़ते हैं।"

गरीबों, असहायों की जीवन-स्थितियां प्रकृति के सच्चे चित्र हैं। यह बोध गुलेरी जी के युग का है। इससे उनकी विद्वता सजीव होती है और यही बोध उनकी विद्वता को सर्जना की प्रेरणा देता है। सर्जनात्मकता उनकी कहानियों, निबंधों में ही नहीं, उनके शोधपरक, पुरातात्विक शोध-लेखों, संपादकीयों, संस्मरणों और पत्रों में भी है। यह सजीवता उनकी विद्वता का ही एक आयाम है।

गुलेरी जी ने पाणिनि के विषय में जो लिखा है उसका स्मरण करना प्रासंगिक है – "अपने समय के मुहाविरों की जानकारी इतनी कि विपाशा के उत्तर तीर के वाहीक ग्रामों के कूप, पार्श्व, यौधेय आदि आयुध जीवी गण (प्रजातंत्र जो किसी राजा की प्रजा न थे और जहां दाम मिलता उसी ओर हथियार चलाते); ऋषियों और राजाओं के पितृक्रमागत नाम, नए और पुराने ब्राह्मण और कल्प सूत्र, उत्तरी और पूर्वी वाग्धारा के भेद, देखे हुए, बनाए हुए और कहे हुए वेद तथा ग्रंथ, यवनों की लिपि, सौवीर, साल्व और पूर्व की नगरियां तथा संकल का बनाया नगर, पशुओं के कानों पर पहचान के लिए बनाए गए चिह्न, द्यूत के खेल – कोई उनकी दृष्टि से न बचा"।

गुलेरी जी के विषय में भी कमोबेश यह बात कही जा सकती है।

डा. मनोहर लाल ने गुलेरी रचनावली का संकलन, संपादन करके बड़ा उपकार किया है। इससे गुलेरी जी की रचनाएं उपलब्ध हो गईं। अनेक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की पंक्तियों का शुद्ध रूप जानने के लिए थोड़ी दौड़-धूप करनी पड़ी। इसके लिए पं. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, डा. च्यवन ऋषि झा से अमूल्य सहायता मिली। इनकी कृपा से यह कार्य और त्रुटिपूर्ण होने से बच गया।

– विश्वनाथ त्रिपाठी

1

पाणिनि

"शोभना खलु पाणिनि ना सूत्रस्य कृतिः"[1]

संस्कृत-व्याकरण में जो यश पाणिनि को मिला वह किसी के भाग्य में नहीं था। ऐसा सर्वांगसुन्दर पूर्ण व्याकरण किसी काल में किसी भाषा में न बना। यों तो महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री कहते हैं[2] कि मैकडानल (मुग्धानलाचार्य) ने अब पाणिनि का-सा ही वैज्ञानिक व्याकरण स्वतंत्र रीति पर बना दिया है किंतु उस व्याकरण की रचना पाणिनि के व्याकरण के होने से ही संभव हुई। विभु आकाश, समुद्र या विष्णु की तरह पाणिनि के व्याकरण की नाप न ईदृक्ता से हो सकती है, न इयत्ता से। वह वही है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह ऐसा है या इतना है। जैसे पाणिनि अपने पहले के सब संस्कृत वैयाकरणों का संघात है, वैसे ही वह अपने पिछले सब वैयाकरणों का उद्गम है। अपने से पहले जिन वैयाकरणों का नाम उसने मतभेद दिखाने के लिए या पूज्यार्थ[3] ले दिया उनका नाम तो रह गया, बाकी के नाम तक का पता नहीं। पूर्वाचार्यों की जो संज्ञाएँ उसने प्रचलित समझकर ले लीं वे रह गईं[4], बाकी पुराने सिक्के पाणिनि की नई टकसाल की मोहरों के आगे न मालूम कहाँ चले गए। पहले के

---

1. पतंजलि, 2, 3, 66।
2. The Professor's Vedic Grammar is a unique work in so far as he has done it without Panini's Vaidika Prakriya. He has evolved the grammar from the language itself and is as scientific as his great predecessor, Panini – एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के वार्षिकोत्सव पर सभापति का व्याख्यान, पृष्ठ 6।
3. आपिशलि 6, 1, 92, काश्यप 1, 2, 25, गार्ग्य 8, 3, 20, गालब 7, 1, 74, चाक्रवर्मण 6, 1, 130, भारद्वाज 7, 2, 67, शाकटायन 3, 4, 111, शाकल्य 1, 1, 16, सेनक, 5, 4, 112, स्फोटायन 6, 1, 123, उत्तरी (उदीचाम्) 4, 1, 153, कोई (एकाषां) 8, 3, 104, पूर्वी (प्राचाम) या पुराने 4, 1, 17।
4. वर्ण बाहुः पूर्वसूत्रे (भाष्य, द्वितीय आह्निक), व्याकरणांतरे वर्णा अक्षराणीति वचनात् (कैयट), आङो नाऽस्त्रियाम् (1, 3, 120) आङिति टासंज्ञा प्राचाम् (कौमुदी)। प्रथमा आदि विभक्तियों के नाम, समासों के नाम, कृत तद्धित आदि नाम, पुराने हैं। अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम्। पूर्वसूत्रेषु येऽनुबंधा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते (पतंजलि, ओङआपः 7, 1, 18 पर) पूर्वाचार्यैर्द्वे अपि द्विवचने ङित्ती पठिते न चेह क्वचिद्पयौङ् प्रत्ययोस्ति। सामान्यग्रहणार्थं च पूर्वसूत्रनिर्देशस्तेन पूर्वसूत्रे य ओङ तस्य ग्रहण भवति (वही कैयट)। तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (पाणिनि 1, 2, 53) के भाष्य तथा कैयट से जाना जाता है कि टि, घु, वे आदि संज्ञाएँ भी पुरानी हैं।

व्याकरणों का एकदम अभाव देखकर कोई यह कल्पना करते हैं कि पाणिनि शास्त्रार्थ में जिन वैयाकरणों को हराता गया उनके ग्रंथों को जलाता गया। कोई कहता है कि शिवजी के हुंकार-वज्र से, जो, जैसा कि आगे कहा गया है, पाणिनि के दुर्बल पक्ष की हिमायत पर चलता गया था, सब नष्ट हो गए। कोई कहता है कि सब वैयाकरण विश्वामित्र का नाम विश्व + अमित्र बनाकर उसके शापभाजन हुए, पाणिनि ने 'मित्रे चर्षौ' सूत्र (6, 3, 130) बनाकर उसकी खुशामद की तथा वर पाया।[1] पाणिनि को जलाने, शिवकोप व विश्वामित्रानुग्रह की आवश्यकता न थी, स्वयं ही उसके तेज के आगे और व्याकरण न ठहर सके। पाणिनि के व्याकरण में विशेषता क्या है ? नई उपज का भाव दिखाने के लिए 'उपज्ञ' और 'उपक्रम' पद आया करते हैं[2], जैसे दूरी और तोल के नाप पहले नंद (राजा) ने चलाए। यों ही पाणिनि के लिए कहा जाता है कि अकालक व्याकरण पाणिनि ने पहले-पहल चलाया[3] अर्थात् पहले क्रियापद (आख्यात) के रूपों के लिए कालवाचक नाम थे[4], पाणिनि ने उन्हें हटाकर लट्, लिट् आदि नाम चलाए। उसने कई संज्ञाएँ नई चलाईं।[5] संक्षेप के लिए कई बीजगणित के से अनर्थक संकेत चलाए।[6] वर्णमाला को नए ढंग से जमाकर अच् कहने से स्वर मात्र, हलू कहने से व्यंजन मात्र आदि को समेटकर बतलाने (प्रत्याहार) की चाल चलाई। बारंबार एक बात न कहने के लिए हुकूमत और सिलसिले (अधिकार और अनुवृत्ति) का क्रम रक्खा। प्रकृति, प्रत्ययों आदि में ऐसे बंध (अनुबंध) बैठाए कि क्या वैदिक साहित्य, क्या लौकिक कुछ भी न बचा। अपने समय के मुहाविरों की जानकारी इतनी कि विपाशा के उत्तर तीर के वाहीक ग्रामों के कूप[7], पार्श्व, यौधेय आदि आयुधजीवी गण[8] (प्रजातंत्र जो किसी राजा की प्रजा न थे और जहाँ दाम मिलता उसी ओर हथियार चलाते); ऋषियों और राजाओं के पितृक्रमागत नाम;[9] नए और

1. यहाँ पाणिनि ने उस प्राकृतिक मौखिक दीर्घ का उल्लेख किया है जो 'श्व' के साथ दूसरा पद मिलाने से हो जाता है। उसने विश्वावसु, विश्वाराट्, विश्वानर और विश्वामित्र का उल्लेख किया है, गँवारी बोली में, काँसी विश्वनाथ, अब तक होता है।
2. उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्। (2, 4, 21) नन्दोपक्रमाणि।
3. पाणिन्युपज्ञमकालकं (आकालापकं अशुद्ध पाठ है) व्याकरणम्। (काशिका)।
4. तेन तत् प्रथमतः प्रणीतं। स स्वस्मिन् व्याकरणे कालाधिकार न कृतवान् (जिनेन्द्रबुद्धि का न्यास) भवन्ती (पाणिनि का लट्) परोक्षा (लिट्) अनद्यतनी भूता या ह्यस्तनी (लङ्) अद्यतनी (लुङ्) भविष्यन्ती (लृट्) अनद्यतनी, भाविनी, श्वस्तनी (लुट्) अतिसर्गी (लोट्) विधायिका (लिङ्), आशी: (आशीर्लिङ्) अतिपातिका (लृङ्)। लोट् तथा लिङ् को पंचमी या सप्तमी भी कहते थे जिससे सुबन्त विभक्तियों से गोलमाल हो जाता होगा। पाणिनि ने इनके लिए वे नाम धरे जो कोष्ठक में हैं और वैदिक Subjunctive को लेट् कहा। यह क्रम 'ल' कार की 'ह्रस्व' बाराखड़ी और उसके आगे ट् या ङ् का संकेत लगाकर क्रम से रखना मात्र है। पाणिनि की बुआ के बेटे संग्रहकार व्याडि (दाक्षायण) ने इन्हीं दस लकीरों में 'ट्, ङ्' की जगह 'हुष्' लगाकर नए नाम बनाए इसलिए व्याड्युपज्ञं हुष्करणम्। (दुष्करणं नहीं।)
5. जैसे नदी, अंग आदि।
6. जैसे – टु, श्लु, फक् आदि।
7. 4, 2, 74
8. 5, 3, 114, 117, 4, 3, 91
9. 4, 1, 104

पुराने ब्राह्मण और कल्पसूत्र[1], उत्तरी और पूर्वी वाग्धारा के भेद[2], देखे हुए, बनाए हुए और कहे हुए वेद[3] तथा ग्रंथ, यवनों की लिपि[4], सोवीर, साल्व और पूर्व की नगरियाँ तथा संकल का बनाया नगर[5], पशुओं के कानों पर पहचान के लिए बनाए गए चिह्न[6], द्यूत के खेल[7] – कोई उसकी दृष्टि से न बचा। सीमा प्रांत के शलातुर[8] में जन्म लेकर भी उसने पाटलिपुत्र में ख्याति पाई।[9] वैदिक साहित्य के प्रयोगों को उसने अपवाद या विकल्प के विषय रखकर अपने समय की 'भाषा' का व्याकरण बनाया। स्वर के विवेचन को पाणिनि ने इतना स्थान दिया है तथा आवाज कुदाने (प्लुत) के नियमों की ऐसी जाँच की है कि मानना पड़ता है कि आपामर भारतवासी मात्र की नहीं, तो एक बहुत बड़े समुदाय की साधारण भाषा संस्कृत अवश्य थी। ज्यों-ज्यों तारतम्यात्मक भाषा विज्ञान का महत्त्व बढ़ा है पाणिनि का यश और भी चमकता गया है। सारे संस्कृत-साहित्य पर पाणिनि की छाप लग गई। जिन्होंने खान से निकला सोना नहीं देखा, टकसाल की मुहरवाले सिक्के ही देखे हैं, उनकी बोलचाल में अपाणिनीय का अर्थ अशुद्ध हो गया। पूर्व में सूर्य उगता है यह लोग भूल चले, सूर्य जिधर उगता है वही पूर्व है यह माना जाने लगा। व्याकरण और पाणिनि का अभेद संबंध हो गया, व्याकरण का या भाषा का अध्ययन न होकर पाणिनि का अध्ययन होने लगा। शब्द इसलिए साधु नहीं है कि वह प्रयुक्त है, इसलिए साधु है कि पाणिनि ने वैसा बनाना बताया है। लक्ष्यैकचक्षुष्क लोग घट गए, लक्षणैकचक्षुष्क[10] बढ़ गए। पाणिनि के आगम और आदेश वास्तव में आगम और आदेश बन गए। अन्य शास्त्रों में भी पाणिनि की परिभाषाओं का डंका बजा। 'लकार', 'लिङ् मां प्रेरयति', 'ङे' और 'ण्चि्' के अर्थों में पाणिनि के कागज के नोट देशांतरों में भी चलने लगे। पाणिनि के पहले भी वेद था, वेदांग थे, व्याकरण वेदांगों में मुख था, किंतु पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' वेदांग हो गई। उसके अविकल पारायण का पुण्य हुआ। पाणिनि का मान ऋषिवत् हुआ। वह था ही ऐसा, 'जो कुछ कहिय थोर सब तासू'।

---

1. 4, 3, 105
2. 3, 4, 19 आदि, 1, 1, 75 आदि
3. 2, 3, 47, 4, 3, 116, 4, 3, 101
4. 4, 1, 49
5. 4, 2. 75-76
6. 6, 2, 112, 6, 3, 115
7. 2 ।1 ।10, 5 ।2 ।9
8. शालातुरीय पाणिनि ('गणरत्नमहोदधि' का मंगलाचरण) शलातुर यूसुफजई प्रान्त का लाहौर है।
9. यह राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में (संभवतः 'वृहत्कथा' के आधार पर) कहा है किन्तु पाटलिपुत्र की स्थापना मगध के बार्हद्रथ राजा अजातशत्रु ने अपने राज्य के चौथे वर्ष में की थी (ना.प्र. पत्रिका भाग 2, पृ. 161। पाणिनि उससे बहुत पुराना होना चाहिए)।
10. वे उदकस्योदः संज्ञायां 6, 3, 57 से 6, 3, 60 तक के भरोसे 'उदक' को प्रकृति और 'उद' को आदेश मानते हैं, 'उद' प्रकृति से 'क' करने से भी 'उदक' बन सकता है यह नहीं मानते और 'वाल्मीकि रामायण' में उदाहारोऽहमागमम्' देखकर चौंकते हैं।

कहते हैं कि पीर स्वयं नहीं उड़त, मुरीद उनके पर लगा देते हैं। पाणिनि ने कहीं स्वयं दावा नहीं किया है कि जिन चौदह सूत्रों में वर्णमाला का क्रम बदलकर मैंने इतना संक्षेप और क्रमसौकर्य पाया है उनका मुझे इलहाम हुआ है, किंतु बात चल गई कि महेश्वर के डमरू के चौदह बार बजने से पाणिनि ने उन्हें पाया[1] करामातों पर लोगों का विश्वास हो जाता है, पुरुष परिश्रम पर नहीं। कन-कन जोड़ने से लखपति होते हैं यह कोई नहीं मानता, किंतु बाबाजी मंत्र के बल से हँडिया में भरे गहनों को दूना कर देते हैं या एक नोट को दो कर देते हैं यह मानने को गाँव का गाँव तैयार हो जाता है। पुराने महलों या किलों को भूतों ने रात-ही-रात में बना दिया यह विश्वास होता है, यद्यपि बड़े-बड़े पुल ईंट-ईंट जोड़कर बनते हुए सामने दिखाई दे रहे हैं। बाजीगर के आम की तरह कोई परम इष्ट वस्तु वर्ष में, छै महीने में, दो महीने में, किसी निर्दिष्ट तिथि तक, मिल जायेगी – इस आशा पर जो उछल-कूद होती है उसका शतांश भी न दिखाई दे, यदि यह कहा जाय कि दस-पंद्रह वर्ष चोटी का पसीना एड़ी तक बहाकर वह मिलेगी। पाणिनि के अलौकिक शब्दज्ञान और अपूर्व व्याकरण पर 'वड्डुकथा' में यह कथा है कि पाटलिपुत्र में आचार्य वर्ष के यहाँ एक 'जड़बुद्धितर' पाणिनि नामक विद्यार्थी था, गुरुपत्नी उससे बहुत कसकर काम लेती, पानी के घड़े भरवाया करती, इसका परिणाम वही हुआ जो होता है – लड़का जान बचाकर भागा, तपस्या करने जा बैठा। शिवजी ने प्रसन्न होकर व्याकरण दिया। उसे लेकर शास्त्रार्थ करने आया। 'ऐंद्र व्याकरण' का प्रतिनिधि वररुचि इस नए वैयाकरण को हराने वाला ही था कि शिवजी ने अपने चेले की हिमायत पर, उसका पक्ष गिरता देख, हुंकार वज्र चला दिया; बस 'ऐंद्र व्याकरण' नष्ट हो गया – 'जिताः पाणिनिना सर्वे मूर्खीभूता वयं पुनः ! !' इस कहानी में, 'वड्डुकथा' के आधार से 'कथासरित्सागर' में भी है, सार इतना ही है कि 'जिताः पाणिनिना सर्वे ! ! !'

इस कथा में वररुचि को पाणिनि का समकालिक, नहीं उससे कुछ पुराना, कहा गया है। वस्तुतः वह पाणिनि से कई सौ वर्ष पीछे हुआ। उसके पहले पाणिनि पर कई व्याख्यान के वार्तिक बन चुके थे। वेद के समय से प्रसिद्धि चली आती है कि वाणी का पहला व्याकरण इन्द्र ने बनाया।[2] वररुचि (कात्यायन) भी 'ऐंद्र-सम्प्रदाय' का था। किंतु उसने पाणिनि को उस्ताद मान लिया। सच्चे वीर की तरह अपने से प्रबल वीर के झंडे के नीचे आ खड़ा हुआ। कुफ्र छोड़कर काबे में आ गया। उसने पाणिनि की रचना पर वार्तिक लिखे, किंतु अधीनता के

1. वार्तिककार तथा भाष्यकार कहीं नहीं जतलाते कि ये 14 सूत्र पाणिनि के नहीं हैं। भाष्य के द्वितीय आह्निक की व्याख्या में तीन जगह कैयट उनके कर्ता को आचार्य या सूत्रकार कह देता है (जो पाणिनि के लिए ही आता है) किंतु तीनों जगह नागोजीभट्ट मानो कैयट की आस्तीन खैंचता है कि हैं ! सूत्रकार यहाँ महेश्वर या वेद पुरुष है, क्या कह रहे हो ? कैयट तक को प्रत्याहारसूत्र आचार्य या सूत्रकार के ही माने जाते थे। नंदिकेश्वर कृत कारिका बहुत पीछे का ग्रंथ है तथा उसमें जो इन सूत्रों का आध्यात्मिक अर्थ किया है वह बड़ी खैंच-तान का, बौद्ध तंत्रों में मातृका के महत्त्व के बढ़ने के पीछे का जान पड़ता है। उसमें अनुबंधों का कोई अर्थ ही नहीं किया जो पाणिनि के सुभीते की नींव हैं।
2. तैत्तिरीय संहिता 6, 4, 7, शतपथ ब्राह्मण 4, 1, 3, 12, 15, 16।

साथ, लोहा मानकर, यही कहा कि इतना और कह दो,[1] इतना और गिनना चाहिए।[2] पाणिनि की परिभाषाएँ उसने मान लीं; पुरानी आदत से संध्यक्षर, संक्रम, समान परीक्षा, भवंती या अद्यत्नी भी उसके मुंह से निकलता रहा।[3] पाणिनि के समय से उसके समय तक जो नए शब्द चल गए थे या अर्थों में परिवर्तन हो गए थे वे भी उसने गिन दिए। पीछे कई सौ वर्ष बीतने पर, जिनमें कई गद्य और पद्यवार्तिक बने, पतंजलि ने बड़ी व्याख्या या महाभाष्य बनाया। अनद्यतनी ह्यस्तनी या लङ् क्रिया के रूप का प्रयोग उस भूतकाल के अर्थ में होता है कि जो बीता हो किंतु जिसे कहने वाले ने देखा हो, या जिसे वह कम-से-कम देख सकता था, परोक्ष या लिट् का प्रयोग बिलकुल आँख से ओझल बात के लिए आता है। इस पर पतंजलि ने दो उदाहरण दिये हैं जो उसके समय को स्पष्ट बतलाते हैं – यवन ने साकेत को घेरा, यवन ने मध्यमिका को घेरा।[4] पतंजलि के समय में संस्कृत उस अर्थ में भाषा न रही थी जिस अर्थ में पाणिनि ने उसे 'भाषा' कहा है। वह एक 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोततिका आदि अपभ्रंशों का उल्लेख करता है,[5] "देवदिण्ण को देवदत्त से पृथक् करता है,[6] आण्णवयति, वट्टति, बड्डति, को धातुपाठ से अलग करता है,[7] दृशि के लिए दसि और कृषि के लिए कसि का प्रयोग होना बतलाता है।[8] साधु शब्दों के प्रयोग में आर्यावर्तवासी 'शिष्टों' की दुहाई देता है जो कुम्भीधान्य, अलोलुप आदि हों।[9] सो पाणिनि की भाषा, अब 'शिष्टों की भाषा' रह गई थी जिसके जानने में 'धर्म' होता था।[10] पहले बहता पानी था, अब कुआँ खोदने वाले की तरह पहले अपशब्दों की धूल से ढके जाकर फिर शिष्ट प्रयोग के जल से शुद्धि मिलती थी।[11] पतंजलि ने कात्यायन के आक्षेपों का समाधान किया है। 'मांगलिक आचार्य (पाणिनि) ने

---

1. इति वक्तव्यम्।
2. उपसंख्यानम्।
3. पीछे के वैयाकरण, अपने को पुरानी शैली पर चलनेवाला तथा पाणिनि को सुधारक बताने के लिए, ऐसे पदों को उसी चाव से कहते रहे हैं जिससे कुछ लोग हिन्दी की जगह 'आर्यभाषा' और नमस्कार की जगह 'नमस्ते' कहते हैं।
4. अनद्यतने लङ् (पाणिनि 3, 2, 111) लोक विज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये (कात्यायन) अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्। यह यवन मिनेंडर (मिलिंद) था। इसी तरह पिछले वैयाकरणों ने उदाहरणों से अपना-अपना समय बता दिया है। अजयद् गुप्तो हुणान् (चंद्रव्या-वृत्ति) अदहदमोघवर्षोरातीन् (जैनशाकटायन) अदहदरातीन् कुमारपालः (हेमचंद्र के व्याकरण की टीका मलयगिरि कृत)। कई लोग बिना समझे इन्हीं उदाहरणों को दोहरा गए हैं। जैसे, काव्यानुशासनवृत्ति में हेमचंद्र 'अजयद् गुप्तो हूणान्'।
5. प्रथम आह्निक।
6. देवदिण्ण (जैसे रामदहिन, रामदीन), – द्वितीय आह्निक।
7. पाणिनि 1, 3, 1 'भूवादयो धातवः' पर।
8. वही।
9. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्। 6, 3, 109 का भाष्य।
10. प्रथम आह्निक।
11. 'कूपखानकवत्' – प्रथम आह्निक।

शुद्ध स्थान में पूर्वाभिमुख बैठकर हाथ को कुशा से पवित्र करके सूत्र बनाए हैं उनमें एक अक्षर भी अनर्थक नहीं हो सकता'[1], सामर्थ्ययोग से देखता हूँ कि इस शास्त्र में कुछ भी अनर्थक नहीं है[2], 'आचार्य की इतनी सी बात सह लो', 'कहते तो तुम ठीक हो, किंतु अपाणिनिय होता है इसलिए जैसा रक्खा है वैसा (यथान्यास) रहने दो', इत्यादि उसके वाक्यों से पाणिनि पूजा कितनी बद्धमूल हो गई थी यह जान पड़ता है। पाणिनि के सारे सूत्रपाठ को एक जुड़ा हुआ (संहिता) पाठ मानकर, कहीं उसमें चिपका अक्षर (प्रश्तेष) देखकर और कहीं प्रचलित सूत्र के दो भाग करके काम निकालना भी कहा है। कात्यायन और पतंजलि ने इतने भारी वैयाकरण होकर भी नया राज नहीं जमाया, पाणिनि के साम्राज्य के भीतर ही कर दिया और स्वराज्य पाया। यह व्याकरण के 'त्रिमुनि' हुए, इनका एक ही सम्प्रदाय रहा, इस सम्प्रदाय में ऐतिहासिक विवेक की वह बात उदारता से चली जो और किसी हिन्दू शास्त्र में नहीं चली अर्थात् यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। पाणिनि से कात्यायन से पतंजलि और अधिक प्रमाण। और सब जगह इससे उलटा है।

अस्तु। इन तीनों ने व्याकरण-खेती को चुन लिया। पीछे व्याकरण का अध्ययन नहीं रहा, पाणिनि का अध्ययन रह गया। इस सूर्यत्रयी के आगे क्या कोई उजियारा करता? टीका व्याख्यान, खंडन मंडन, इसी बात पर होते रहे के पाणिनि ने यह क्यों कहा, यह पद क्यों रक्खा। आस्तिकों के लिए संहितापाठ में छेड़छाड़ करना असम्भव था। कुछ बौद्ध टीकाकारों ने सूत्रों में कुछ बढ़ाना चाहा तो आस्तिकों से उन्हें डांट मिली कि हमारे पारायण की चीज में क्षेपक मिलाते हो।[4]

इनके पीछे कुछ अहिन्दू (बौद्ध और जैन) सीला बीनने वाले हुए। कोई-कोई सीला जो उन तीनों चुनने वालों से रह गया था, या उनके पीछे प्रयोग में आया, इन्होंने चुना।[5] किंतु और

---

1. पाणिनि 1, 1, 1 पर।
2. 6, 1, 3 का भाष्य।
3. प्रथम सूत्र।
4. चांद्र व्याकरण के लगभग 35 सूत्र काशिकाकारों ने सूत्र पाठ में मिलाना चाहे। कैयट ने जगह-जगह पर लिखा है कि उनका 'अपणिनीयः सूत्रेषु पाठः' पा. 4, 1, 15 में ख्युन् जोड़ना अनार्ष हुआ।
5. जैसे विश्रम के अर्थ में 'विश्राम' (चांद्र, मेघदूत श्लोक 25 की मल्लिनाथ कृत टीका)। जैसे बार्हस्पत्य संवत्सर अर्थात् जिस नक्षत्र में बृहस्पति का उदय सूर्य से युति होकर फिर अस्त से निकलने पर वर्ष के आरम्भ में हो उस पर से वर्ष का नाम पौषसंवत्सर, माधसंवत्सर आदि रखने s गणना करना। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि समय में यह बार्हस्पत्य गणना नहीं थी, उन्होंने सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायां (4, 2, 21) नक्षत्रेण युक्तः कालः (4, 2, 3) से पौष, माघ आदि महीनों के नाम ही बनाए। बार्हस्पत्य गणना पुराने कदंबों और गुप्तों के शिलालेखों में मिलती है। (पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी की प्राचीन लिपिमाला, पृ. 187) चांद्र व्याकरण में इसके लिए सूत्र हैं — गुरूदयाद्भाद् युक्तेऽब्दे, शाकटायन — उदितगुरोर्भाद्युक्तेऽब्दे। काशिकाकार ने 'पौषः मासः' की तरह ही पौष संवत्सरः (मासार्धमाससंवत्सराणामेषा संज्ञा) बनाना चाहा, किंतु यों प्रत्येक संवत्सर ही पौष, माघ आदि हो जाता है, विशेष संज्ञा नहीं होती, हर एक में पुष्य, मघा आदि आते हैं, बिना गुरूदय का उल्लेख किए काम नहीं चलता।

बातों में बिना समझे लीक पीटते गए, अपना नया संप्रदाय चलाना चाहते रहे। जैसे हिन्दुस्तान में कई राजाओं ने अपना नया संवत् चलाया जो कुछ ही वर्ष पीछे उनके वंश का राज्य नष्ट होने पर आगे न चला वैसे ही इन्होंने नई परिभाषाएँ चलाईं। पाणिनि ने बहुत संक्षेप किया था। चाहे उस समय लेखन-सामग्री की कमी से संक्षिप्त लिखने की चाल रही हो, चाहे कंठस्थ करने के सुभीते के लिए, सूत्र ऐसे रचे गए हों, चाहे वैदिक साहित्य और स्वर-विचार की अधिकता से संक्षेप करना पड़ा हो। अब कागज की कमी न थी, रटने की चाल भी कम हो गई थी, न इनकी रचना में ऐसी पवित्रता थी कि वह पारायण में आती, और वैदिक भाग और स्वर को इन्होंने छोड़ ही दिया था। तो भी पाणिनि से बढ़कर संक्षेप करने की धुन इन पर सवार थी, पाणिनि वालों ने आधी मात्रा के लाघव को पुत्रोत्सव समझा, तो इन्होंने पौत्रोत्सव समझा। पाणिनि से अपना बिलगाव दिखाने के लिए कुछ पुरानी संज्ञाएँ काम में लीं, कुछ नई गढ़ीं, उसकी 'संज्ञा' को 'नाम' कहा,[1] 'सु' को सि[2] कहा – 'हल् को 'हस्' किया। समेटतर कहने का ढंग (प्रत्याहार) तो उसी ने लिया किंतु कुछ अक्षर इधर-उधर किये। कहीं कात्यायन के वार्तिक की नई बात सूत्र में घुसेड़ी, कहीं एक सूत्र को तोड़कर दो और कहीं दो को चिपकाकर एक कर दिया। उदाहरण देना केवल विस्तार करना है। इनका प्रचार जब तक और तैसा ही हुआ तब तक और जैसा स्वामी दयानन्द की 'नमस्ते' की रूढ़ि के जमने के पहले 'सलामवालेकम्', 'वालेकमस्सलाम' देखादेखी राजा जयकृष्णदास आदि के चलाए 'परमात्मा जयति', 'जयति परमात्मा' का रहा था। अपनी साख जमाने के लिए अपने सम्प्रदाय को पुराना बताने के लिए कई यत्न किये। पाणिनि के वैसा न कहने पर भी यह प्रसिद्धि चल गई थी कि उसके प्रत्याहारसूत्र और उसका व्याकरण महेश्वर से आया है। एक कहता है कि जब महावीर जिन कुमार थे, उस समय इन्द्र ने उससे प्रश्न करके जो व्याकरण सीखा वही प्रश्नोत्तर हमारा जैनेन्द्र व्याकरण है।[3] 'मत पानी से सींच', और 'लड्डुओं से सींच' का भेद न जानने वाले राजा के लिए जो व्याकरण बनाया गया वह महेश्वर का नहीं, तो महेश्वर के पुत्र कुमार का कहा गया।[4] एक व्याकरण साक्षात् सरस्वती का सिखाया कहलाया।[5] एक ने पाणिनि के उल्लिखित पूर्वज शाकटायन के नाम पर अपनी कृति बनाई[6] और उसकी विशेष बातों को अपने व्याकरण में

---

1. चांद्र व्याकरण, 'असञ्ज्ञकम्'
2. 'सु' 'सि' में एक रहस्य है। सिद्ध पद के अन्त में स् (:) आता है, या संधि में 'ओ' या 'र'। 'सु' सि' में 'उ' 'इ' दोनों वैयाकरणों के संकेत हैं। शोरसेनी में 'पुरुसो' होता है, मागधी में 'पुलिसे'। संस्कृत में तो 'स्' ही काफी था। क्या यह मानें कि शोरसेनी 'प्राकृत' को 'संस्कृत' करने वालों ने 'पुरुसो' देखकर 'सु' माना, और मागधी के आधार पर संस्कृत करने वालों ने 'पुलिसे' पर निगाह जमाकर 'सि' माना ? यह उल्टी गंगा नहीं, संस्कृत के वास्तव रूप की मूलभित्ति की कल्पना है।
3. यदिन्द्राय जिन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपतिम्। ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम्।
4. शर्ववर्मन् का कौमार या कालाप व्याकरण – 'मोदकैः सिञ्च मां राजन्'।
5. अनुभूतिस्वरूपाचार्य का सारस्वत।
6. जैन या अभिनवशाकटायन दक्षिण के राठौड़ राजा अमोघवर्ष के यहाँ था। ईसवी नवीं शताब्दी का अन्त उसका काल है।

मिलाकर शाकटायनी रंग देना चाहा, किंतु पूरी तरह बात छिपाई न जा सकी ।[1] पाणिनि ने तो मतभेद या आदरार्थ पुराने वैयाकरणों के नाम दिए, इन्होंने भी वैसे ही सूत्र ढंग पर कई नाम दिए जिनमें कई कल्पित हैं ।[2] ये व्याकरण दो तरह के बने । एक तो हिन्दुओं के वेदांग पाणिनि व्याकरण से ही हमारा काम क्यों चले इसलिए बौद्ध, दिगम्बर जैन और श्वेताम्बर जैन व्याकरण बनाए गए । उनका पठन-पाठन भी हुआ, टीकाएँ भी बनीं, किंतु अपने गुट के बाहर प्रचार न हो सका । यह वैसा ही आन्दोलन था जैसा मुसलमान जज, अब्राह्मण प्रतिनिधि और नैषध की जगह धर्मशर्माभ्युदय पढ़ाने के लिए होता है । दूसरे वे जो पाणिनि की सांकेतिक कठिनता से बचाकर आलसियों, राजाओं, बनियों और साधारण जनों को दस दिन में[4] व्याकरण सिखाने के लिए बनाये गए । दोनों से अधिक काम न सरा क्योंकि सारे संस्कृत वाङ्मय में पाणिनि की परिभाषाओं के चलने से पहले पक्ष को अधिक पढ़ने पर अपनी सीखी नौगढ़ंत परिभाषाएँ भूलनी पड़तीं और दूसरे पक्ष में मुग्धबोध[5] और खोटे (छोटे) तंत्रों[6] के नाम के अनुसार ही ज्ञान होता । दूसरे ढंग के व्याकरणों का प्रचार बहुत कुछ रहा और है, क्योंकि पहले केवल 'पार्षदकृति' थे और जो कुछ उनमें तत्व था वह पाणिनि के टीकाकारों ने या तो उदारता से ले लिया या कुछ खेंच-खाँचकर अपने यहाँ ही बता दिया ।[7]

---

1. जैसे पाणिनि कहता है कि मेरे मत में, 'अयान्' होता है, शाकटायन के मत में 'अयुः' । (या धातु का अनद्यतनभूत प्रथम पुरुष बहुवचन 3, 4, 111, 112) जैन शाकटायन को केवल, 'आयुः' ही मानना चाहिए था किंतु वह भी 'वा' लिख गया ।
2. एक जैन पोथी में ही जैनेन्द्र व्याकरण के 'रात्रेःप्रभाचन्द्रस्य' के प्रभाचंद्र को कल्पित बताया है तथा हेमचंद्र के द्वयाश्रम काव्य के टीकाकार ने सिद्धसेन को । (वेलवलकर, पृ. 66) ।
3. छान्दसाः स्वल्पमतयः शास्त्रान्तररताश्च ये ।
   ईश्वरा व्याधिनिरतास्तथालस्ययुताश्च ये ॥
   वणिक् सस्यादिसंसक्ता लोकयात्रादिषु स्थितः ।
   तेषां क्षिप्रं प्रबोधार्थम् (कातन्त्र की टीका व्याख्यान प्रक्रिया)
4. नरहरि कृत बालावबोध — दशभिर्दिवसैर्वैयाकरणो भवति । इन टिप्पणियों में कई जगह डाक्टर वेलवलकर के उत्तम निबंध 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' की सहायता ली गई है ।
5. वोपदेव का ।
6. का — तंत्र ।
7. देखो — ऊपर पृ. 380, टि 1, 2

2

पुरानी हिन्दी की भूमिका

हिन्दुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे 'संस्कृत' कहते हैं, परन्तु जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मँजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरोने के बाँध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली, छोटी बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आन्दोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान् नहीं सकते। सदा इस संस्कृत नहर को देखते-देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और, फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर समतल और सूत से नपे किनारों को छोड़कर जल-स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा, कहीं गँदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति– हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण का आरम्भ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति है, उससे आया, इसलिए 'प्राकृत' कहलाया – यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। संभव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छंदस् की भाषा का जितना सात्म्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्गक्रम यह है –

1, मूल भाषा 2. छंदस् की भाषा < 3. प्राकृत 4. संस्कृत / 5. अपभ्रंश

संस्कृत अजर-अमर तो हो गई किंतु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हाँ, उसकी सम्पत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश, और पीछे हिन्दी आदि भाषाएँ पुष्ट होती गईं और उसने भी समय-समय पर इनकी भेंट स्वीकार की।

वैदिक (छंदस् की) भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बँध गया। इसके कई उदाहरण हैं –

1. वेद में 'देवाः' और 'देवासः' दोनों हैं, संस्कृत में केवल 'देवाः' रह गया और प्राकृत

आदि में 'आसस्' (दुहरे 'जस्') का वंश 'आओ' आदि में चला गया।

2. 'देवैः' की जगह 'देवेभिः' (अधरेहिं) कहने की स्वतंत्रता प्राकृत को रिक्थक्रम (विरासत) में मिली संस्कृति को नहीं।

3. संस्कृत में तो अधिकरण का 'स्मिन्' सर्वनाम में ही बँध गया, किंतु प्राकृत में 'म्मि', 'म्हि' होता हुआ हिन्दी में 'में' तक पहुँचा।

4. वैदिक भाषा में षष्ठी या चतुर्थी के यथेच्छ प्रयोग की स्वतंत्रता थी, वह प्राकृत में आकर चतुर्थी विभिक्ति को ही उड़ा ले गई, किंतु संस्कृत में दोनों, पानी उतर जाने पर चट्टानों पर चिपटी हुई काई की तरह रह गईं।

5. वैदिक भाषा का 'व्यत्यय' और 'बाहुलक' प्राकृत में जीवित रहा और परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में एक विभक्ति 'ह', 'हँ' बहुत 'ही'; से कारकों का काम देने लगी, संस्कृत की तरह लकीर ही नहीं पिटती गई।

6. संस्कृत में पूर्वकालिक का एक 'त्वा' ही रह गया और 'य' भिंच गया, इधर 'त्वान' और 'त्वाय' और 'य' स्वतन्त्रता से आगे बढ़ आए (देखो, आगे)।

7. क्रियार्था क्रिया (Infinitive of Purpose) के कई रूपों में से (जो धातुज शब्दों के द्वितीया, षष्ठी या चतुर्थी के रूप हैं) संस्कृत के हिस्से में 'तुम्' ही आया और इधर कई।

8. 'कृ' धातु का अनुप्रयोग संस्कृत में केवल कुछ लम्बे धातुओं के परोक्ष भूत में रहा, छंदस् की भाषा में और जगह भी था, किंतु अनुप्रयोग का सिद्धान्त अपभ्रंश और हिन्दी तक पहुँचा।

यह विषय बहुत ही बढ़ाकर उदाहरणों के साथ लिखा जाना चाहिए, इस समय केवल प्रसंग से इसका उल्लेख ही कर दिया गया है।

अस्तु। अकृत्रिम भाषाप्रवाह में (1) छंदस् की भाषा, (2) अशोक की धर्मलिपियों की भाषा, (3) बौद्ध ग्रंथों की पाली, (4) जैन सूत्रों की मागधी, (5) ललितविस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और (5) खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत, ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा 'मागधी' या 'अर्द्धमागधी' कही गई है। उसे 'आर्ष प्राकृत' भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देशभेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की छाँट की, किंतु मागधीवाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे।[1] जिन पुराने नमूनों का हम उल्लेख कर चुके हैं वे देशभेद के अनुसार इस नामकरण में किसी एक में ही अन्तर्भूत नहीं हो सकते। बौद्धभाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिए हुए है, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है, शुद्ध प्राकृत के नमूने जैन सूत्रों में मिलते हैं। यहाँ दो बातें और

1. हेमचंद्र ने 'जिणिंदाण वाणी' को 'देशीनाममाला' के आरंभ में 'असेसभ सपरिणामिणी' कहकर वंदना करते हुए क्या अच्छा अवतरण दिया है —

देवा दैवीं नरा नारीं शबराशचापि शार्बरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम्॥

देख लेनी चाहिएँ। एक तो जिस किसी ने प्राकृत का व्याकरण बनाया, उसने प्राकृत को भाषा समझकर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों को छोड़कर कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत-व्याकरण केवल संस्कृत-शब्दों के उच्चारण में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं इनकी परिसंख्या-सूची मात्र हैं। दूसरी यह कि संस्कृत-नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत-व्याकरण के नियमों से त की जगह य और क्ष की जगह ख रखकर, साँचे पर जमा कर, गढ़ी गई है। वह संस्कृत-मुहाविरों का नियमानुसार किया हुआ रूपान्तर है, प्राकृत भाषा नहीं। हाँ, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौरसेनी, पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देशभेद मात्र रह गईं, जैसा कि प्राकृत-व्याकरणों में उन पर कितना ध्यान दिया गया है, इससे स्पष्ट है। मागधी अर्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रहकर जैन सूत्रों में ही बंद हो गई, वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई। प्राकृत-व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचन कर उसी को आधार मानकर, शौरसेनी आदि के अन्तर को उसी के अपवादों की तरह लिखा है। या यों कह दो कि देश भेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत-साहित्य की प्राकृत एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। वह परम प्राकृत और सूक्ति-रत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उसकी कदर की। हाल (सातवाहन) ने उसके कवियों की चुनी हुई रचना की 'सतसई' बनाई, प्रवरसेन ने सेतुबँध से अपनी कीर्ति उसके द्वारा सागर के पार पहुँचाई, वाक्पति ने उसी में गौड़वध किया किंतु यह पंडिताऊ प्राकृत हुई, व्यवहार की नहीं। जैनों ने धर्म-भाषा मानकर उसका स्वतंत्र अनुशीलन किया और मागधी की तरह महाराष्ट्री भी जैन-रचनाओं में ही शुद्ध मिलती है। और, छंदों के होने पर भी जैसा संस्कृत का 'श्लोक' अनुष्टुप् छंदों का राजा है, वैसे प्राकृत की रानी 'गाथा' है, लम्बे छंद प्राकृत में आए कि संस्कृत की परछाई स्पष्ट देख पड़ी। प्राकृत कविता का आसन ऊंचा हुआ। यह कहा गया है कि देशी शब्दों से भरी प्राकृत कविता के सामने संस्कृत की कौन सुनता है[1] और राजशेखर ने, जिसकी प्राकृत उसकी संस्कृत के समान ही स्वतंत्र और उद्भट है, प्राकृत को मीठी और संस्कृत को कठोर कह डाला।[2]

---

1. ललिए महुरक्खरए जुबईयणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं॥
(बज्जालग्ग, 29)

(ललित, मधुराक्षर, युवतीजनबल्लभ, सश्रृंगार प्राकृत कविता के होते हुए संस्कृत कौन पढ़ सकता है?)

2. परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।

3

डिंगल

डिंगल शब्द के अर्थ में कई मतभेद हैं। राजपूताने की प्राचीन कविता जिसमें देशी अपभ्रंश अधिक आते हैं और कर्कश शब्दों का अधिक प्रयोग होता है, 'डिंगल' कहलाती है। डिंगल कविता का समय हो नहीं चुका, अब भी चारण जैसी कविता करते हैं। राजपूताने के कवि और कविता जानने वाले ब्रजभाषा की सुकुमार कविता को तो 'पिंगल' कहते हैं और कर्कश शब्द प्रचुर देशी कविता को 'डिंगल'। 'पिंगल' तो छंद के आचार्य हैं, यह नहीं कि 'डिंगल' कविता के छंद कोई दूसरे हैं, किंतु 'डिंगल' के छंद 'पिंगल' सूत्रों में लिखे छंदों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, किंतु व्यवहार में श्रृंगार का दोहा जिसकी भाषा सुकुमार हो 'पिंगल' कहलाएगा। (लक्षण-शास्त्र का लक्ष्य पर उपचार) और दानस्तुति, निंदा (भूंडा) या वीरता का देशी दोहा डिंगल।

एक महाशय ने तो 'डिंगल' को प्राचीन राजस्थानी भाषा का नाम मान लिया है और राजपूताने की चटशालाओं की अखरावट को 'डिंगल' की वर्णमाला कह दिया है। इसका अत्यासक्ति को छोड़कर कोई प्रमाण नहीं। कुछ लोग 'डिंगल' का अर्थ 'डगर की बोली' करते हैं पर 'डगर' क्या है और कहाँ है, इसका कुछ पता नहीं। 'पहाड़ी या रेतली भूमि' का अर्थ करने से भी डिंगल कविता के क्षेत्र का यह नाम होना सिद्ध नहीं होता। एक चारण महाशय इसकी व्युत्पत्ति में कहते हैं कि 'म्हें डगल बेड़ा करां हाँ' अर्थात् ब्रजभाषा के कवि तो कटे-छँटे-तराशे पत्थरों से मकान बनाते हैं, हम मिट्टी के टेढ़े-मेढ़े डगल या ढेले दो-दो जोड़कर झोंपड़ा चुनते हैं, इस 'डगल' से डिंगल बन गया। इस निर्वचन में भी 'डगल' डिंगल के श्रुतिसाम्य के अतिरिक्त कुछ तत्त्व नहीं।

मेरे मत में 'डिंगल' केवल अनुकरण शब्द है, 'काफ़िया न मिलेगा तो बोझों तो मरेगा' की कहावत के अनुसार पिंगल के भेद दिखाने के लिए बना लिया गया है। जैसे 'वासवदत्ता' के विषय में (अधिकृत) बनाई गई कहानी 'वासवदत्ता' कहलाती है वैसे ही लक्षण-शास्त्र और लक्ष्य रचना के अभेदोपकार से हिन्दी-कविता 'पिंगल' कहलाई। उससे भेद करने के लिए, श्रुतिकटु टवर्ग बहुल भाषा की कविता के लिए 'डिंगल' एक यदृच्छा शब्द है, डित्थ आदि की पहचान की तरह इसका कोई अर्थ नहीं है।

निश्चित अर्थ के वाचक किसी शब्द से, उससे भेद दिखाने के लिए उसी की छाया पर दूसरा अनर्थक शब्द बनने और उसके दूसरे अर्थ के वाचक हो जाने के कई उदाहरण मिलते हैं।

1. कर्म का अर्थ सब जानते हैं। कुछ धातु द्विकर्मक होते हैं, जिनके साथ एक कर्म गौण या अनुक्त होता है और दूसरा प्रधान या उक्त। इस अनुक्त या 'अकीर्तित' कर्म के लिए वैयाकरणों के यहाँ 'कल्म' संज्ञा है। यह संज्ञा भाष्यकार पतंजलि ने बनाई या परीक्षा, भवन्ती आदि की तरह पुराने आचार्यों की बनाई है इसका कोई पता नहीं, किंतु इसका अर्थ कुछ नहीं है, केवल 'कर्म' से भेद करने के लिए उससे मिलता-जुलता नाम बना लिया जाता है। स्वामी दयानंद ने केवल परिष्कार जानने वाले नवीन वैयाकरणों को चकराने के लिए इसका उपयोग किया किंतु 'कल्म', 'कर्म' ऐसे ही हैं जैसे 'डिंगल-पिंगल'।

2. 'कुमार' का अर्थ बालक है। उसके तद्भव 'कुँवर' का अर्थ उस मनुष्य में रूढ़ हो गया है जिसका पिता जीता हो। किसी राजपूत को पिता के जीते 'कुँवर' न कहकर 'ठाकुर' कहना बाप की गाली समझा जाता है। 'कुँवर रामसिंह' का अर्थ हुआ – रामसिंह जिसका पिता जीता है, पिता के मरने पर वह ठाकुर हो जाएगा। अब यदि रामसिंह के पुत्र हो जाए तो वह क्या कहलावेगा? उसका पिता स्वयं कुँवर है। इसलिए दादा के सामने पोते के लिए सांकेतिक नाम बनाया गया – भँवर। भँवर का कोई अर्थ नहीं है, न भ्रमर से संबंध है, वह केवल 'कुँवर' से भेद करने के लिए मिलता-जुलता शब्द है। वैसे ही पड़दादा के जीते दुर्लभ पड़पोते को 'तँवर' या 'टँवर' कहते हैं।

3. जातियों के विभाग में 'दस्सा' और 'बीसा' पद आते हैं। 'दस्सा' का अर्थ 'दासी का पुत्र' या मातृपक्ष से हीन है। दासी से 'दस्सा' बना है। इस शब्द के प्रचलित होने पर असल या शुद्ध जाति वालों ने 'दस्सा' की संख्या समझकर और बीस विस्वे की पूर्णता के उपचार से अपना नाम 'बीसा' रख लिया। 'दस्सा' का दस से कुछ संबंध नहीं है, न 'बीसा' का बीस से; किंतु दास से बनने वाले 'दस्सा' को हीन पक्ष पर रूढ़ देखकर उसका दस की संख्या से श्रुतिसाम्य मानकर उससे भेद करने के लिए और अपने को बीसों विस्वा 'असल' बनाने के लिए 'बीसा' नाम गढ़ लिया गया।

4. 'रुक्का' का अर्थ पत्र है। सांकेतिक व्यवहार में एक रियासत में पत्रों के क्रमानुसार दर्जे हैं, जैसे कैफियत, परवाना, रुबकार। 'रुक्का' नीचे के अधिकारी के नाम ऊँचे अधिकारी की लिखावट के अर्थ में रूढ़ हो गया है। 'रुक्का' का अपना कोई अर्थ नहीं, न इसका सूखे से कोई संबंध है, केवल रुक्के से भेद बताने के लिए यह सुक्के का तुक्का चलाया गया है।

5. पंजाबी 'अढ़ाई घर' सारस्वतों की 'पंचजाति', कुमड़िये, जैतली, झिंगण, तिक्खे और मोहलों से भेद दिखाने के लिए ही 'चार घर' की जातियों के नाम कुछ विकृत करके लुमड़िये, पेतली, पिंगण, पिक्खे और बोहले रक्खे गए। (सारस्वतसर्वस्व, पृ.232-3) इन पदों का कोई अर्थ नहीं है। पहले नामों से भेदमात्र दिखाने को परिवर्तन किया है।

(प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : 1922 ई.)

4

हिन्दी व्याकरण

(केशवराम भट्ट कृत। बिहारबन्धु छापाखाना, बांकीपुर। 192 पृष्ठ। आठ आना।) 'हिन्दी व्याकरण पढ़ने से हिन्दी ठीक-ठीक बोलना और लिखना आ जाता है।' – इस परिभाषा से हिन्दी के पुराने लेखक भट्टजी ने अपने अच्छे व्याकरण का आरम्भ किया है। एक परिहासप्रिय मित्र ने, इसे देखकर, हिन्दी व्याकरण की यह परिभाषा बनाई है कि "हिन्दी व्याकरण वह मृगतृष्णा है जिसके पीछे 'हिन्दी ठीक-ठीक लिखना और बोलना जान' कर ही अच्छे लेखक दौड़ने लगते हैं।" संस्कृत व्याकरण के जटिल और सुशृंखल नियमों की चाल पर हिन्दी-व्याकरण बनाने के पूर्व कई बातों पर विचार करना चाहिए। संस्कृत का सबसे प्राचीन और नियमित व्याकरण (जिसे व्याकरण का आदर्श भी कह सकते हैं) पाणिनि का व्याकरण है। उस प्रायः पूरे व्याकरण में यदि समय-भेद से प्रयोग-भेद के कारण कुछ परिवर्तन हुए तो वे कात्यायन और पतंजलि ने बढ़ा दिए, और वेदों के विरुद्ध इसी शास्त्र में यह वाक्य चला कि "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं।" इस तिहरी जकड़न में संस्कृत-भाषा का अङ्ग-भङ्ग हो गया और पतंजलि के पीछे के वैयाकरणों का इतिहास उन्नति का नहीं, अवनति का है। कई वैयाकरणों का यत्न पाणिनि के संक्षेप सूत्रों को और भी संक्षिप्त करने में रहा, आधुनिक समय में न्याय की गोद लेकर नवीन वैयाकरणों ने बाल की खाल खेंचना आरम्भ किया और यदि कोई नए रूपों के लिये नए सूत्र बने तो केवल एक यही कि "निरंकुशाः कवयः"। भाषा की लहलहाती बेल को धूप और बरसात से बचाने के लिये जिस ग्लास-केस में बन्द किया था, उसने भाषा की साँस घोंट दी, या यों कहिए कि बुढ़िया संस्कृत भाषा की व्याकरण की लाठी के इतनी अधीन हो गई कि स्वच्छंदता से चल-फिर न सकी। भट्टजी ठीक कहते हैं कि यदि– "संस्कृत भी आज प्रचलित भाषा होती तो पाणिनीय व्याकरण भी कभी ऐसा पत्थर की लकीर न होता।" (भूमिका 1) और प्रचलित हिन्दी भाषा में कोई व्याकरण वैसा होने का दावा नहीं कर सकता। व्याकरण की जड़ पर भाषा बढ़ती है सही, किंतु यदि उन जड़ों को गिनकर, नाप-तौलकर, जांचकर बढ़ने से रोका जाय और अन्धकार में से निकालकर सबकी उंगलियों के नीचे रक्खा जाय, तो वे न बढ़ेंगी और बेल के बढ़ने की आशा नहीं करनी चाहिए। भाषा वही जो बिना सीखे आवै, जो व्याकरण को अपना दास न बनाकर उनकी दासी बन गई, जिसने ठोकरों से न गिरूँ यह विचार कर ली हुई लकड़ी को अपनी अनन्य आधारभूता बैसाखी बना ली, उसे भाषा नहीं कहा जा सकता। लैटिन, ग्रीक प्रभृति भाषाएं अपने अन्तकाल में व्याकरण के परवश बनी हैं, और इसके विरुद्ध अंग्रेजी, फ्रेंच प्रभृति भाषाएं व्याकरण को अपने साथ

नचाती हैं। परिवर्तन संसार का नियम है, और हिन्दी भाषा अभी जितनी छोटी है उसके देखते जिन डेढ़ दर्जन देशी और विदेशी वैयाकरण सज्जनों के नाम भट्टजी ने अपने व्याकरण की भूमिका में दिए हैं, उनका होना कम नहीं मालूम देता। कहीं इससे वही बात न हो कि जैसे नायिका-भेद के लक्षणग्रन्थ हिन्दी में बीसियों होने पर भी कोई लक्ष्यग्रन्थ, महाकाव्य नहीं, जिसमें उनका समन्वय हो सके, वैसे ही व्याकरण के नियमशास्त्र तो रहें, किंतु लक्ष्य के न होने से हमें भी "लक्षणैकचक्षुष्क" बनाकर काना बनना पड़े। और हुआ भी कुछ-कुछ ऐसा ही है। भट्टजी लिखते हैं – "क्या करें, दिल्ली के प्रामाणिक कवि प्रायः सभी मुसलमान हैं। हिन्दू कवियों को तो प्रायः खड़ी बोली भाती ही नहीं। दिल्ली का हिन्दू भला गद्य लेखक ही प्रसिद्ध और प्रामाणिक जो कोई होता तो उसी के लेख में दृष्टान्त उद्धृत किए होते अतएव क्षमा के पात्र हैं।" (भूमिका पृ.5) अतएव भट्टजी इन अर्धनारीश्वर साहित्य का व्याकरण बनाती बेर 'जों जों काल बदलता जाता है... तों तों भाषा भी बड़ी उमंग के साथ रोज-रोज अपना रंग बदलती जाती है और अन्धाधुन्ध (संज्ञा या क्रिया विशेषण ?) फैलती जाती है।" इस भाषा के जीवित होने के लक्षण को 'आपद्' न मानें। जब बच्चा बढ़ने लगे तब उसकी टाँगे न बांधनी चाहिए, या बढ़ते पैरों को लोहे के जूते में बन्द करके चीनी युवती की मण्डूकप्लुति का अनुकरण न करना चाहिए।

एक बात और भी है। जब कात्यायन ने संस्कृत के शब्दार्थ को भी सिद्ध किया और लोकगम्य माना है, तो हिन्दी व्याकरण के प्रचार के लिये (external sanction) बाह्य रक्षा भी नहीं है। हिन्दी वालों को 'निष्कारण' वेदों की रक्षा नहीं करनी है, उन्हें आहिताग्नि होकर अपशब्द बोलते ही प्रायश्चित करने नहीं दौड़ना पड़ता, और न ही उन्हें यह धमकी है कि यदि प्रणाम के उत्तर में वे प्लुत न बोलेंगे तो उन्हें स्त्रियों की तरह प्रणाम किया जायेगा। उन्हें प्रयोग के लिये आप्तवाक्य, व्यवहार, सान्निध्य आदि से शक्तिग्रह हो सकता है, और व्याकरण को वे उनका सहायक ही मानेंगे न कि एक मात्र अधिकारी। हाँ, विदेशियों को व्याकरण जानने की बड़ी फिक्र रहती है। "और और देशों के लिये जो हो सो हो पर बिहारियों के लिये तो बिना हिन्दी पढ़े कल्याण ही नहीं। क्योंकि इनकी मातृभाषा कहीं मगहिया, कहीं भोजपुरिया, कहीं तिर्हुतिया है, और यह हिन्दी उन्हें सीखकर अपनी-अपनी मातृभाषाओं से उल्था करके बोलना पड़ता है।" (भूमिका, पृ.1) आरा की सभा शायद इस बात को न माने।

भट्टजी ने बहुत ठीक हिन्दी उर्दू को एक भाषा माना है, किंतु मौलवी शिवली नौमानी फरमाते हैं कि मौलवी फतह मुहम्मद ने जो उर्दू-व्याकरण लिखा है उसमें उर्दू का व्याकरण अरबी के साँचे में ढाला गया है। क्या यह बात सच है कि केवल इसलिये कि उत्तर भारत के मुसलमान उर्दू को बोलते हैं, उस (उर्दू) आर्य घराने की कुलबाला को सिमियातिकी बुर्का और पजामा पिन्हाया जाता है? 'नागरी प्रचारिणी सभा' को मौलवी साहब को इस काम से रोकना चाहिए।

भट्टजी व्याकरण के साथ 'भाषा के इतिहास का लिखना भी अवश्य' नहीं समझते, और उनके मत में "छंद को व्याकरण से ऐसा कुछ लगाव भी नहीं है" (पृ.6 भू.) क्योंकि उनमें

'पाणिनि' का ढर्रा यथासम्भव अवलम्बन किया है। किंतु एक बात यह भी है कि हिन्दी भाषा का इतिहास लिखना आसान काम नहीं है, उसके कई भाग अभी ऐतिहासिक खोज की प्रतीक्षा में अन्धकार के काने उदर में छिपे हुए हैं। यदि हिन्दी छंद को भट्टजी लिखते भी तो उसमें क्या-क्या लिखते। संस्कृत और प्राकृत का पूरा छंदःशास्त्र, फारसी और अरबी के पूरे वजन और अंग्रेजी के साधारण छंदों को गिनकर भी पिण्ड नहीं छूटता, क्योंकि खड़ी बोली के नए छंद बंगला और मराठी छंदःशास्त्र तक के नहीं छोड़ते। पाणिनि (Punctuation) नहीं लिखा, यह भी अंग्रेजी व्याकरणों की चाल है। भट्टजी ने उसे लिखा है (187-192)। उच्चारण के भेद पाणिनि ने शिक्षा[1] में लिखे हैं, किंतु भट्टजी ने इस व्याकरण में लिखे हैं (पृष्ठ 49)। शब्दों का निरुक्त, उनका भिन्न-भिन्न भाषाओं से आना प्रभृति पाणिनीय में नहीं है तो भी भट्टजी के व्याकरण के 21-30 पृष्ठों में निरुक्त का आनन्द आता है। पद-परिचय के माने (Parsing) पार्जिग् और अन्वय का अर्थ (Analysis) अनालिसिस (170, 166) पाणिनिय में नहीं जान पड़ते। सो भट्टजी के व्याकरण में शिक्षा है, व्याकरण है, निरुक्त है, पार्जिग् है, अनालिसिस है। तो फिर छंद और इतिहास के लिये पाणिनि की दुहाई देना ठीक नहीं।

ग्रन्थ में सात अध्याय हैं। पहले में वर्ण-विचार है। छठे में वाक्य-विचार और सातवें में चिह्न-विचार होने से बाकी में शब्द-विचार है। दूसरे अध्याय में संस्कृत, फारसी और अरबी धातुओं का, उनसे बने शब्दों की पहचान का, अच्छा उल्लेख है। ठेठ हिन्दी के (तत्सम और तद्भव) धातु भी खूब छाँटे हैं। तीसरे अध्याय में संज्ञा के सम्बन्ध में लिङ्ग, वचन, कारक, विभक्ति का विचार है। चौथे में धातु, क्रिया, उनके रूप और वाच्य का विचार है। पाँचवें में व्यौत्पत्तिक और अव्यौत्पत्तिक (सी ! व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न क्यों नहीं ?) अव्यय, कृत तद्धित आदि का विचार है। छठे में महावरे का भी दिग्दर्शन कराया गया है। क्या क्रम में, क्या विषय में, क्या उदाहरणों की चुनावट में, ग्रन्थ बहुत अच्छा बना है, और आज तक के हिन्दी व्याकरणों के देखते, पढ़ने-पढ़ाने योग्य है।

9 पृष्ठ से 'अक्षरों के हेरफेर' के नाम से संस्कृत की सन्धियाँ, यत्व, णत्व के नियम दिए गए हैं। हिन्दी में कोई सन्धि नहीं करता। संस्कृत में जुड़े-जुड़ाये पद ले लिये जाते हैं। हिन्दी वाले 'विवक्सा' से 'विवक्षा' नहीं बनाते। अतएव हिन्दी में संस्कृत की सन्धियाँ Phonetic परिवर्तन माननी चाहिए, और सिद्ध शब्द ले लेने चाहिए।

"और और भाषाओं से आये और विशेषतः देशज शब्दों की व्युत्पत्ति विषय कोष का है, व्याकरण का नहीं।" (पृ.17) नहीं, यह व्याकरण का ही विषय है। यदि कोष का अर्थ आधुनिक Dictionary हो तो व्याकरण उसके पेट में आ जाता है। (पृ.27) वजन बहुत अच्छे हैं, किंतु थोड़े हैं।

भट्टजी ने एक शून्य प्रत्यय (पृ.35) और बुझक्कड़ गवइया प्रभृति में अक्खडप् और वइयाय् प्रत्यय (पृ. 46) बनाए हैं। यह विलक्षणता बिना प्रयोजन मालूम होती है। संस्कृत

1. यथासौराष्ट्रिका नारी तक्रं इत्यभिभाषते। इत्यादि।

व्याकरण की तरह 'पित्व' का क्या फल माना गया ? विभक्तियाँ पाँच मानी गई हैं – कर्त्ता, का, से, का, में । उनके प्रयोगों का वर्णन पूरा है । वाच्य, धातु, और अव्ययों में कई नई बातें हैं । अनालिसिस और पार्जिंग बालकों को बड़े उपयोगी होंगे, क्योंकि उनसे वाक्यों की गठन जल्दी समझ में आती है ।

रोजमर्रा और वाग्धारा के अध्याय कुछ बड़े होने चाहिए थे । इन्हीं पर जीवित भाषा का व्याकरण निर्भर है । "मुहावरा मानो मनुष्य के शरीर में कोई सुन्दर अङ्ग है और रोजमर्रे को ऐसा जानना चाहिए जैसे अङ्गों का तारतम्य मनुष्य के शरीर में ।" (पृ. 184)

भाष्यकार ने लिखा है कि जैसे घड़े की जरूरत पड़ने पर कुम्हार के यहाँ जाना होता है, वैसे वैयाकरण को यह कोई कहता कि हमें शब्द बना दीजिए हमें उनका प्रयोग करना है । साधारण व्यवहार का मार्ग दिखाने ही भर के लिये व्याकरण की आवश्यकता है, और हिन्दी की वर्तमान दशा में भट्टजी का व्याकरण प्रायः इस काम के लिये योग्य है । मतभेद तो सदा ही रहते हैं ।

भट्टजी इसका मूल्य ॥ बतलाते हैं, किंतु वे कहते हैं कि पाठ्यपुस्तक होने पर इसका मूल्य कम भी हो सकता है । हम इस पुस्तक का मङ्गल चाहते हैं ।

(प्रथम प्रकाशक : समालोचक : मई, 1904 ई.)

5

जालहंस की सुभाषितमुक्तावली और चन्द की षट्भाषा

सितम्बर सन् 1919 की 'सरस्वती' में श्रीयुत शिवदास गुप्त का एक लेख छपा है। जान पड़ता है कि लेखक संस्कृत समझते हैं और उसके रसिक भी हैं, तभी तो उन्हें कालिदास के 'मेघदूत' के जोड़ के 'पवनदूत' का आनन्द आया और वह आनन्द अपने ही तक न रखकर, उन्होंने पाठकों को भी चखाया। जान पड़ता है कि वे हिन्दी के प्रेमी और सेवक भी हैं, तभी तो उन्होंने 'पवनदूत' के चुने हुए पद्यों का रस हिन्दी में निचोड़ कर दिखाया। जान पड़ता है कि वे कुछ अंग्रेजी भी जानते हैं, तभी तो उन्होंने महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री की खोज के परिश्रम की कद्र की और उसे सराहा। ऐसे प्रामाणिक लेखक के लेख से एक नया समाचार जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। 'पवनदूत' के श्लोकों और अनुवाद का स्वाद तो जो मिला सो मिला, एक और नया लोकोत्तर चमत्कार जान पड़ा। अब तक की संस्कृत-साहित्य की खोज में यह रत्न हाथ नहीं आया था। यश पुण्यों से मिलता है – देशी-विदेशी खोजियों को वह यश न मिला जो श्रीयुत शिवदास गुप्त को मिला। वह महत्त्व की खोज – बड़ी भारी नई बात – यह है कि लेखक ने एक नये ग्रन्थ की सूचना दी है। दो जगह उस छोटे से लेख में आप 'जालहंस की सुभाषितमुक्तावली' का उल्लेख करते हैं। यह 'जालहंस' – वबजन 'राजहंस' या 'कालहंस' – संस्कृत-साहित्य में नया नाम है। सुभाषित संग्रहकार कई सुने गए। पर इस कविकीर्ति-संग्रहकार का नाम कभी सुना न गया। शिवदासजी से प्रार्थना है कि इस 'जालहंस' का और उसकी 'सुभाषितमुक्तावली' का कुछ और पता दें। इस परिचय के लिए हम तरस रहे हैं।

हम तो शिवदासजी गुप्त की इस खोज की प्रशंसा में मग्न हैं। क्या बात है! क्या बढ़की बात निकाली है! इधर हमारे एक हँसोड़ मित्र कह रहे हैं कि 'जालहंस', 'बालहंस' कोई नहीं है – रोमन लिपि का चमत्कार है और संस्कृत-साहित्य न जानने वालों की, अंग्रेजी या बंगला सूँघकर 'गवेषणापूर्ण' लेख लिखने की लालसा पूर्ण करके पाँचवें सवार बनने की धुन का परिहास मात्र दुष्परिणाम है। जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' प्रसिद्ध है। कवियों के समय निर्णय करने में बड़े काम की वस्तु है। अंगरेजी में रोमन लिपि में जल्हण को JALHANS (षठ्यन्त प्रयोग) लिखा हुआ था और पादरी नोल्स साहब की दुलारी रोमन लिपि के तुफैल से और संस्कृत की जानकारी न होने से 'जालहंस' का जाल बिन जाने रचा गया। जैसे कि 'सोनगरा' राजपूतों का नाम कर्नल टाड के 'राजस्थान' में पढ़कर बंगाली अनुवादक ने सौ नगरों के स्वामी क्षत्रियों का जाति-नाम न समझकर अंग्रेजी अक्षर और बंगालियों के गोल-मोल

उच्चारण के भरोसे 'शनि-ग्रह' राजपूत कहकर अटकल लड़ाई कि सूर्य, चन्द्र, वंश की तरह 'शनि-ग्रहवंशी' राजपूत भी होंगे और मुरादाबादी अनुवादक ने भी हिन्दी में बंगला की वही साढ़ेसाती शनिश्चर की दशा राजपूतों पर ढा दी, वैसे ही लेखक के मानस में 'जालहंस' की किलोलें आरम्भ हो गईं ! !

इस तर्क का उत्तर मेरे पास कुछ नहीं है। 'जालहंस' के नीर-क्षीर-विवेक की प्रमाणस्वरूप 'सुभाषितमुक्तावली' को कण्ठस्थ करने की मेरी इच्छा पर मित्र की समालोचना का सुदर्शन चक्र चल गया। मैंने केवल एक ही बात कही। मैंने कहा – "गीता के दर्शनशास्त्र को निचोड़ डालने वाले लेखक भी पारसीधर्म का हाल लिखते समय जरथुश्त को 'जरथुश्ता' और अहूर-मज्द 'अहुरामज्दा' लिख देते हैं। जल्हंस को 'जालहंस' पढ़नेवाले ने 'पवनदूत' के सुन्दर श्लोकों का स्वाद तो चखाया, आप 'जल्हण' को जानते हैं, 'विल्हण' को जानते हैं, 'कल्हण' को जानते हैं – आपने हिन्दी में एक बिन्दी भी न लिखी। जो स्वयं कुछ लिखकर लोकज्ञान की मात्रा न बढ़ावे, उसके मुंह में जीभ कहाँ है कि अपनी समझ भला-बुरा लिखनेवालों पर नुक्ताचीनी करे ? "साझी का पूत न कमावे न कमाने दे !"

मेरे मित्र कहने लगे –

"चन्दवरदाई, या उसके नाम से **पृथ्वीराजरासो** के बहुत से अंशों को गढ़ने वाला कोई सोलहवीं सदी का मेवाड़ी चारण, एक जगह लिख गया है –

षटभाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।

इस पर हिन्दी भाषा के इतिहास के अंधकारमय गगन के त्रिशंकु नवरत्नों के पारखी 'विनोदकार' श्रीयुत मिश्रबन्धु लिखते हैं (बहुवचन का प्रयोग यहीं सार्थक होता है) – "परन्तु अरबी और संस्कृत के अतिरिक्त चन्द ने किन छह भाषाओं के शब्द रक्खे हैं यह विचारना शेष है।" इस पर आप दर्जन से अधिक भाषाओं की परेड करके निर्णय करते हैं कि "प्राकृत और शौरसेनी के अतिरिक्त चन्द मागधी, अवधी, राजपूतानी और पंजाबी के शब्दों का भी प्रयोग किया करता है और यही छह भाषाएँ हैं जिनका वह संस्कृत और अरबी के अतिरिक्त प्रयोग करता है।" वह भाँग कुएं में ऐसी घुली कि चँद की छह भाषाएँ पहेली बन गईं। लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझे कोई। जो हिन्दी-साहित्य के मन्यमान आदि कवि चन्द की बात करता है वही इस षट्भाषा पर सिर धुनने लगता है। अरे बाबा, षट्रस, सप्तद्वीप, पंचमकार की तरह षट्भाषा पर सिर धुनने लगता है। अरे बाबा, षट्रस, सप्तद्वीप, पंचमकार की तरह षट्भाषा कवियों का टकसाली संकेत है। 'त्रयी' कहने से तीन वेदों का ही ग्रहण होता है, तीनों 'मिश्रबन्धुओं' का नहीं। षट्भाषा नियत है, रूढ़ है, परिचित है। मंख कवि लोष्टदेव की प्रशंसा करता है – "वदनाम्बुरुहे यस्य भाषाः षडधशरते", जयानक कवि पृथ्वीराज का यश सराहता है – "जयन्ति सोमेश्वर-नन्दनस्य षण्णांगिरां शक्तिमतो यशांसि।" संस्कृत-साहित्य में जगह-जगह छह भाषाओं का मुहाविरा है, कोई जाने और देखे तो ! चन्द ने भी गतानुगतिक रीति से वही मुहारनी पढ़ दी है। 'षड्भाषाचन्द्रिका' नामक प्राकृतव्याकरण का नाम तो सुना होगा ? प्रसिद्ध षड्दर्शन जैसे अटकल की गुंजाइश नहीं कि ये छह कौन-कौन से हैं वैसे चन्द

के कथन में भी नहीं। अब भी 'खड्दर्सन की जमात', 'खड्दर्सन का अखाड़ा', 'खड्दर्सन का भोजन' कहा जाता है। अवश्य ही साधुओं की जमात में पुराने षड्दर्शन के अनुयायी चाहे हों चाहे न हों, टकसाली नाम खड्दर्सन चल गया है, वैसे ही चन्द की भाषा में छह भाषाओं के प्रयोग छाँटने बैठना बाल की खाल निकालना है, चन्द मुहाविरे से पुराने ढंग पर 'षट्भाषा' कह गया। जैसे खड़ी बोली वालों के बोलों से तंग आकर ब्रजभाषा की मिठास की दुहाई देते समय आगरे के सत्यनारायण कविरत्न (परमेश्वर उन्हें स्वर्ग दे, सच्चे मार्मिक कवि थे!) कह गये कि ब्रजभाषा को गँवारी कौन कह सकता है जिसमें हरि ने माखन-रोटी माँगी। उस समय 'कविरत्न' यह सोचने को न ठहरे कि जब कृष्णरूप हरि माखन-रोटी माँगते होंगे उस समय यहां की भाषा सूरदास की भाषा न थी। या जैसे अपने 'वीरमणि' में मिश्रबन्धु अपने पात्रों के मुँह से गुसाईं तुलसीदासजी की चौपाइयाँ कहलवाते हैं (यह द्विवचन है। हाय! हिन्दी में द्विवचन है ही नहीं!) तो वे यह सोचने को नहीं ठहरते कि उनके उपन्यास की ऐतिहासिक पीठिका के लगभग दो सौ बरस पीछे गुसाईं जी रामायण लिखेंगे। यों ही चन्द पुराने कवियों की चाल पर छह भाषाओं की दुहाई दे गया है जैसे कि बूँदी के 'वंश-भास्कर' के कर्ता मीषण सूरजमल उन्नीसवीं सदी में भी छह भाषाओं की चर्चा करते हैं। चन्द की षट्भाषा में अवधी, राजपूतानी और पंजावी नहीं है और न मीषण सूरजमल की में राठ और डांग और मेवाड़ी। छह भाषाओं का पुराना श्लोक यह है –

"संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च॥

मैंने फिर मित्र की बैखरी के प्रवाह को रोका। कहा – 'यह तो अप्रसंग कथा है, आप पुराने फफोले फोड़ते हैं। आप यदि छह भाषा रूपी बारविलासिनियों के भुजंग हैं तो आप ही ने हिन्दी का इतिहास क्यों न लिखा? 'जालहंस' के होते हुए भी शिवदास गुप्त ने 'पवनदूत' का स्वाद दिखाया (चखाया) और षट्भाषा न समझकर भी मिश्रत्रय ने हिन्दी का इतिहास तो बना दिया। आप काटने के लिए आरा ही हैं, गड़ने के लिए कुम्हार टोला नहीं।"

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : नवम्बर, 1919 ई.)

6

योरोपियन संस्कृत
(EUROPEAN SANSKRIT)

विद्वान अंग्रेज भारतवासियों की अंग्रेजी को, बाबू इंगलिश की प्रेममय उपाधि से स्मरण करते हैं। उनकी बोलचाल में बाबू हरिबन्शो जबरजी, बी.ए. परिहास के पात्र हैं और भारतवासियों का चरित्र जब कभी अंकित किया जाता है तब, मिस्टर डिक के सिर में प्रथम चार्ल्स के सिर के समान, बाबू इंगलिश भी आ ही जाती है। परन्तु भारतवासियों में अंग्रेजी के बड़े-बड़े विद्वान् हो गये और हैं। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनरजी के भाषणों से इंगलैण्डवालों को पिट का स्मरण हो आता था और मान्यवर वायसराय ने अभी अपने प्रसिद्ध कन्वोकेशन के भाषण में भारतवासियों की "विदेशी भाषा में बोल सकने की आसानी की ईर्ष्या" प्रकाश की थी। विदेशियों की भाषा अंग्रेजी को हमने इतना अपना लिया है कि हमारी देशभाषा भी उसी के साँचे में ढली जाती है, हमारे उच्च विचार उसी में प्रकाशित हो सकते हैं, हमारे प्रधान संवादपत्र और राष्ट्रीयसभा के अधिवेशन बिना उसके चल नहीं सकते। हमने अपने कंठ तालु आदि को यहाँ तक बिगाड़ा है कि यूरोपियनों की तरह बोल सकना एक गौरव की बात हो गई है और देश-भाषाएँ भी वैसे ही मरोड़कर बोली जाती हैं। विदेशी भाषा के हम लोग इतने स्वार्थहीन भक्त हो गये हैं कि हमारी भाषाएँ अब उनकी दासियाँ बनकर ही स्कूल और कालेजों में रहने पाती हैं।

जब भारतवासियों को अपनी भाषाओं की ओर उपेक्षा का आक्षेप सुनाया जाता है तब अंग्रेज और जर्मन विद्वानों के संस्कृत प्रेम और पाण्डित्य का उदाहरण दिया जाता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने क्या अच्छा तीर मारा था—

आल्हाऊदल को भयो अंग्रेजी अनुवाद।
यहि लखि लाज न आवही तुमहिं ? नाहिंइ विषाद॥

भारतवासी विद्वान् पुस्तक-जड़ कहे जाते हैं और संस्कृत भाषा की लीलास्थली भारतवर्ष को छोड़कर जर्मनी हो गई है। ऐसा बारम्बार सुनाई देता है। जर्मनी में संस्कृत कैसे पढ़ी जाती है उस पर ध्यान दिया जाता है और जर्मनी के पठन प्रकारों की संस्कृत की जन्मभूमि में कलम लगाने का प्रस्ताव परम गम्भीरता से किया जाता है।

मेरा यह उद्देश्य कभी नहीं है कि पाश्चात्य विद्वानों ने पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान आदि की गवेषणा में संस्कृत को जो गौरव दिया है और उनके प्रयोग से अपने ऊपर जो गौरव डाला है, उसको तुच्छ ठहराऊँ या उसका उपहास करूँ। उनने अक्षुण्ण मार्गों को खोलकर वह काम

किया है जो भारतवासियों को करना चाहिए था। यदि उनने कभी कोई भ्रम भी किया हो तो उस भाषा के अध्ययन की कठिनाइयों के सामने वह श्रम क्षन्तव्य है। अतएव उनकी ओर पूरा सन्मान दिखाकर उनके संस्कृताभ्यास के तुच्छ नमूने यहाँ देकर भारतवासियों के अंग्रेजी पढ़ने के परिश्रम से तुलना करना कभी भी तुच्छता या कलुषता न समझी जाय – यह मेरी प्रार्थना है।

साधारण रीति से कहा जा सकता है कि डाक्टर कीलहार्न का-सा वैयाकरण योरोप में नहीं है, परन्तु उसने संस्कृत में बहुत ही कम लिखने का साहस किया है। यह स्पष्ट रीति से कहा जा सकता है कि किसी योरोपीय पंडित ने संस्कृत में ग्रन्थ या निबंध लिखने का सहसा प्रयत्न नहीं किया। हाँ, डाक्टर बूलर अपने मित्रों को संस्कृत में पत्र लिखा करते थे। उनका एक ऐसा पत्र महामहोपाध्याय स्वर्गीय पंडित दुर्गाप्रसाद जी के सम्पादित 'कामरत्न' के द्वितीय संस्करण में छपा है। डाक्टर पीटरसन को उनके मित्र 'पीतरसन (सरस्वती को पी जाने वाला) कहते थे। उनने और महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसादजी ने मिलकर जो 'सुभाषितावलि' का संस्करण छपवाया है उसमें दो श्लोकों में डाक्टर साहब ने अपने गुरु बोखास को वह ग्रन्थ समर्पण किया है। रावलपिण्डी के वर्तमान 'इन्सपैक्टर आफ स्कूल्स' और 'लाहौर ओरियन्टल कालेज' के भूतपूर्व प्रिंसिपल डाक्टर स्टेन अपने नाम को संस्कृत बनाने के लिए 'स्तेनः' लिखते थे। इस पर पंडितों को हँसते देखकर (संस्कृत स्तेनः चोर) उसने 'स्तेन' लिखना आरम्भ किया।

डाक्टर मैक्समूलर ने संस्कृत पढ़ने में बड़ा परिश्रम किया था। उसने मोम का कागज अक्षरों के ऊपर रखकर कलम फेरते-फेरते सम्पूर्ण 'सायण भाष्य' की नकल की थी। उसने जर्मनी को 'शार्मण्य' और आक्सफोर्ड को 'उक्षातरण' बनाया। उनके भक्त भारतवासियों ने उन्हें भट्ट की उपाधि दी और उनका नाम शुद्ध होकर 'मोक्षमूलर' बन गया। उनके सम्पादित 'ऋग्वेद' के अन्त में एक श्लोक है, उनके चौथे चरण की बहार देखिये –

शार्मण्यदेशजातेन उक्षयत्रनिवासिना।
मोक्षमूलर भट्टेन पुस्तकमिदं शोधितम्॥

जर्मनी के प्रोफेसर वेबर भी संस्कृत के बड़े पंडित और गवेषक कहे गये हैं। उन्हें डाक्टर भाण्डारकर ने 'याज्ञवल्क्य' की उपाधि दी है। वर्तमान युग के याज्ञवल्क्य ने 'यजुर्वेद संहिता' का संस्करण छपवाया है। उसमें कुछ संस्कृत भी है। पढ़िए –

ओम्! शुभं भवतु। कल्याणमस्तु।
संवत्सरे खृष्टीये 1851 विक्रमार्कगते 1907 शके 1773
समाप्तिमगात्
बोग्देन मुद्रिता सेयं वेबरेण च शोधिता।
बाजसनेयसंहिता वेददीपेनसंयुक्ता॥

(जरा इसके छंद पर ध्यान दीजिए)

ओम् श्री वेदपुरुषाय नमः।

ग्रन्थ के आदि में लिखा है.–

"श्री शुक्ल यजुर्वेदे वाजसनेयिसंहिता–
माध्यन्दिनीयानां च काण्वीयानां च शाखेऽनुसृत्य
श्रीमन्महीधर कृत वेददीपाख्यभाष्यसहिता
अल्बर्त्तेन वेबरेण शोधिता
प्रुष्यनाम्नि जनपद वेर्लिनाख्यां राजधान्यां मुद्रिता संवत्सरे 1852"

डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर – गौटिंगन (गोत्रांगण) की प्राच्य पंडितों की कांग्रेस में गए थे। वह कांग्रेस उनको विदेह राजा जनक के अश्वमेध की सी मालूम दी। उसमें उन्हें याज्ञवल्क्य, अश्वल, गार्गी सभी दिखाई दिए। परंतु भारतवर्ष में आकर उन्होंने जो निबंध एशियाटिक सोसाइटी की बंबई शाखा में पढ़ा, उसमें उन्होंने कहा था कि वहाँ किसी पंडित ने मुझे दो श्लोक लिखकर बताए थे, वे दोनों ही अशुद्ध थे।

कील यूनिवर्सिटी के वेदांताध्यापक डाक्टर डेउसन (देवसेन) वेदांत और संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। उसने बादरायण सूत्रों का जर्मन भाषा में अनुवाद किया है। वे भारतवर्ष में भी आए थे। उसने राथ और बोधलिंग नामक पंडितों की प्रशंसा के दो श्लोक अपनी 'एलीमैंट्स आफ मैटाफिजिक्स' में लिखे हैं। राथ और बोधलिंग ने जर्मन भाषा में एक संस्कृत का बड़ा भारी प्रकांड कोश बनाया है उसका नाम 'वार्टीबुख' है। मुक्त कंठ होकर कहना ही होगा कि संस्कृत का इतना बड़ा कोश और इतना अच्छा कोश जगत् में और नहीं है। देवसेन के श्लोक ये हैं–

येन संस्कृतभाषाया ज्ञानं सूपायनं कृतम्
अद्वितीयनद्वयारतब्धं वन्दे ग्रन्थमुत्तमम्।
सकलं जीवितं याभ्यां ब्रह्मविद्याप्रकाशके
माषर्षभे समवृतं ताभ्यामस्तु नमो नमः॥

ये श्लोक सन् 1877 ई. में बनाए गए थे।

गत वर्ष 'काशी संस्कृत कॉलेज' में दो योरोपीय विद्यार्थी थे। एक रूसी था और एक अमेरिकन। दोनों 'काव्यशास्त्र' पढ़ते थे। अब भी वे वहीं हैं। जब केवल एडिनबरा में ही प्रायः अस्सी भारतवासी विद्यार्थी हैं, तब भारतवासियों को 'कूपमंडूक' कहना और उनकी भाषा को 'बाबू इंगलिश' कहना ठीक नहीं मालूम देता।

(प्रथम प्रकाशन : 'श्री राघवेंद्र' सं.9-10, वैशाख-ज्येष्ठ 1962, 1905 ई.)

7

हिन्दी साहित्य

साहित्य में दो तरह के ग्रन्थ होते हैं – एक लक्षण दूसरे लक्ष्य। लक्ष्यों को देखकर लक्षण बनते हैं। पाणिनि के सामने उस समय का सारा संस्कृतवाङ्मय था जिसे लक्ष्य मानकर उसने लक्षणग्रन्थ व्याकरण बनाया। संस्कृत-साहित्य में कई सौ नाटक होंगे जिन्हें सामने रखकर उनकी पहचान के लिए 'दशरूपक' आदि ग्रन्थ बने। कई करोड़ श्लोकों में अलंकार तथा रस बिखरे पड़े हैं जिन्हें लक्ष्य रखकर लक्षण ग्रन्थ बने। हिन्दी में चाल इससे उलटी पड़ी। महाकाव्य गिनती के दो-तीन और नायिकाभेद के ग्रन्थ अनगिनत! जो चला नायिकाभेद का ग्रन्थ लिखने या अलंकार समझाने, चाहे अपने लक्षणों के लिए उदाहरण पहिचानने की योग्यता न होने से स्वयं ही गढ़कर उदाहरण बनाना पड़े, किंतु लक्षण ग्रन्थ बनाते गये। संस्कृत में प्रामाणिक लक्षण ग्रन्थकार अपने गढ़े हुए उदाहरण नहीं देते। वे पुराने प्रसिद्ध कवियों के 'मूर्धाभिषिक्त' उदाहरणों पर अपने दोष या गुण के लक्षण घटाते और समझाते हैं। उनके पीछे क्षेमेन्द्र के से लक्षणकार हैं जो स्वयं कई लक्ष्य ग्रन्थ भी बना चुके हैं। वे कालिदास आदि का उदाहरण कहीं सुलभ न पाकर अपनी रचना में ही दबी जबान से एक-आध नमूने दे देते हैं; 'यथा वा ममं', किंतु उनकी निष्पक्षपातता तो देखिए कि दोषों के उदाहरण में भी अपनी रचना में से दिखा देते हैं – हिन्दी लक्षणकार चन्द में से सूरदास या तुलसीदास में से उदाहरण देकर अपने लक्षणों की संगति नहीं दिखाता, न बिहारी के तीर के-से गम्भीर घाव करने वाले दोहों के अलंकार और नायिकाओं को समझाता है। वह अपने किये लक्षणों के लक्ष्य स्वयं गढ़ता है। सर जार्ज ग्रिअर्सन ने एक बहुत अच्छा सखुन कहा है – हिन्दी कविता तुलसीदास के साथ मर गई, गुसाईं जी के पीछे तीन सौ वर्ष तक जो कवि हुए वे स्वयं कवि न थे, कविता नहीं कर सकते थे, किंतु उन्होंने अपना सारा समय इसी यत्न में बिताया कि स्वयं कवि न होकर दूसरों को कविता करना सिखा दें; वाह! क्या अच्छा कहा है!

8

हिन्दी भाषा के उपन्यास-लेखकों के नाम

प्रिय महाशयो,

आप लोग दो प्रकार की रचना करते हैं। एक तो उन विलक्षण और असम्भव ऐयारियों और तिलिस्मों में गोते खिलाना है जो कभी न थीं और जो विज्ञान की चाहे कितनी ही उन्नति हो जाय, कभी भी सम्भव न होंगी। दूसरा गार्हस्थ्य और समाज के उन आदर्श चित्रों को दिखाना है जो वर्तमान समय में नहीं हैं, या तो प्राचीन समय में थे, या उस समय भी कल्पना ही में थे। उन्हीं के रंगने में दोनों प्रकार के सज्जन अपना समय और पढ़ने वालों का सब व्यय करते हैं। दोनों ढंगों में नायक सब गुणों का पुतला होता है, प्रतिनायक सब दोषों की खान बताया जाता है। नायिकायों के रूप में अनन्वयालंकार ही चलता है, उनके रूप में कोई भी कमी नहीं। ग्रन्थकार के प्यारों में गुण-ही-गुण है, और उसके विरोधियों में दोष-ही-दोष। स्वतंत्र रमा में दोषों का एटलान्टिक है और परतंत्र लक्ष्मी में सद्गुणों का पैसिफ़िक। धर्मात्मा सुख-ही-सुख पाता है, और व्यावहारिक मनुष्य दुःख-ही-दुःख। उनके नायक ब्राह्मण तोते की तरह धर्मशास्त्र को स्वप्न में जपा करते हैं, क्षत्रिय शौचकाल में तरबार बाँधे फिरते हैं, नायिकाएँ नदी में डूबते भी पति का जूता उठाना ही बर्ताती हैं, और सिटल्लू ऐयार भी अपने बटुए से नहीं चूकता। परन्तु क्या आपने कभी खयाल किया है कि जगत् में क्या ऐसी सृष्टि है? आप मुझ से कहेंगे – "क्यों? चरित्रों को गोशमाली और छिद्रान्वेषण क्यों करें? क्या ब्राह्मण के मुख से 'पीत्वा, पीत्वा' कहलवा दें? क्यों दिव्य की प्राचीन प्रथा को छोड़कर नवीन वकीलों की कल-कल मचावें? क्या यह सुन्दर नहीं मालूम देता कि सद्गुणों का और पाठकों के प्रेम का एक पात्र बीसों बिस्वे तैयार कर दिखावें? यदि तुम भी उपन्यास-लेखक हो तो किसी गद्दीधारी महन्त के मुख से शतरंज या मदिरा की बात न कहलवाकर धर्मोपदेश करा देते जो उसके मुँह से कार्तिक-माहात्म्य की तरह सुनाई देता?"

यदि मेरे मत में उपन्यास-लेखक का सबसे ऊँचा व्यवसाय चरित्रों को, जैसे वे कभी न थे और न होंगे वैसे बनाना ही होता, तो मैं अवश्य ऐसा ही करता। तब तो जीवन और चरित्र को बिलकुल अपनी ही रुचि के अनुसार मैं गढ़ सकता था, मैं धर्मोपदेशक का सर्वोत्तम नमूना चुन लेता और सभी मौकों पर मेरे रुचिर उपदेश उसके मुँह में रख देता। किंतु आश्चर्य है कि मेरा (अर्थात् सच्चे उपन्यास लेखक का) सब से प्रबल यत्न यही होता है कि ऐसे उच्छृङ्खल और इकतरफा चित्र से किनारा कसूँ और मनुष्य और वस्तुओं का वैसा सच्चा चरित्र दूँ जैसा कि वे मेरे हृदय-कांच में अंकित हुए हैं। अवश्य ही कांच में दोष हैं; चरित्र कभी-कभी बिगड़ गए हैं,

छाया भी धुँधली या बिगड़ी हुई है, किंतु मैं आप लोगों को अपने विचारों को ठीक-ठीक समझाने में वैसा ही बाधित हूँ जैसा कि हलफ़ उठाकर ठीक गवाही देने में। यदि वास्तव चरित्र को आपने देख और समझकर कलम पकड़ी है, तो मैं प्रतिज्ञापूर्वक कह सकता हूँ, कि जिसकी स्तुति में आपने पृष्ठों पर पृष्ठ रंगे हैं, यह कदाचित् नीरस, अयोग्य और अनुपादेय चरित्र था। कदाचित् आप कहेंगे – "यह बहुत ही बिरला संयोग होता है जब कि वास्तव दशा उस सुन्दर चित्र पर पहुँच जाय जो हमारे उन्नत विचार और शुद्ध रसों के अनुकूल है। तो वास्तव दशा पर कुछ उन्नति ही न कर दो, उन्हें उन शुद्ध विचारों से अधिक मिलती हुई बना दो जिनके रखने का हमारा अधिकार है। ठीक जैसा हम चाहते हैं, वैसा तो यह जगत् है ही नहीं; कुछ इसको रसमयी पैन्सिल से रंग दो, और विश्वास करा दो कि यह इतना उलझा हुआ मामला नहीं है। जिन मनुष्यों के विचार निर्दोष हैं उनसे निर्दोष ही काम कराना। अपने अपराधी चरित्रों को भ्रम के मार्ग पर रहने दो और धर्मात्मा चरित्रों को सरल मार्ग पर। तो हम एक दृष्टि से ही देख सकेंगे कि किसको सराहें, और किसको कोसें। यदि ऐसा करोगे तो हम अपने पुराने विचारों को कुछ भी हिलाए बिना चरित्रों की स्तुति कर सकेंगे, उस परम असन्देह विश्वास उत्पन्न जुगाली के स्वाद के साथ कुछ चरित्रों को घृणा भी कर सकेंगे।"

मेरे प्यारे मित्र ! कहो तो उस अपने ही गाँव के मित्र का तुम क्या करोगे जिसने तुम्हारे भाई से थानेदारी छीन ली ? उन नए पाठशाला के अध्यापक को क्या करोगे जो 'सुद्ध्युपास्यः' भी स्लेट पर लिखकर साधता है और जिनके पढ़ाने की ढाल उसके पूर्वज से बुरी होने से दुःखदायक है ? उस योग्य नौकर को क्या करोगे जो अपने एक दोष से आपका सिर खपाता है ? अपने पड़ोसी रामसेवक का क्या करोगे जिसने बीमारी में आपकी इतनी सेवा की परन्तु जब से आप अच्छे हुए आपके विषय की अनुचित बातें गाँव में फैलाईं ? और भला अपनी उस प्राणप्यारी कमलनयनी का क्या करोगे जिसका चिढ़ाने वाला स्वभाव उस समय कांच की चूड़ियों की चर्चा छेड़ता है जिस समय आप उसे रूस-जापान के युद्ध का कारण समझाते हों या अपने अटल प्रेम के अनुमोदन में हवा में हाथ हिलाकर व्याख्यान दे रहे हों ? इन साथी मर्त्यों में से प्रत्येक जैसा है उसको वैसा ही लेना और समझना पड़ेगा; तुम न उनके नाक सीधे कर सकते हो, न उनकी हँसी को चमका सकते हो, न उनके स्वभावों को ठीक कर सकते हो, और इन लोगों को ही जिनमें आपको अपना जीवन बिताना पड़ेगा, सहना, सम्हालना और प्यार करना तुम्हें आवश्यक है। ये ही न्यूनाधिक कुरूप, मूर्ख और असम्बद्ध मनुष्य वे हैं जिनकी भलाई की बड़ाई करने को तुम्हें समर्थ होना चाहिए और जिनके लिए तुम्हें यथासम्भव आशा और यथासम्भव सन्तोष काम में लाना पड़ेगा। यदि मुझमें सामर्थ्य भी हो तो भी मैं वह चतुर उपन्यास-लेखक नहीं होना चाहता जो इस जगत् से ऐसा अच्छा जगत् बना देता है कि जिस जगत् में हम प्रत्येक प्रातःकाल अपना काम करने को उठते हैं, उसको छोड़कर, मेरे ग्रन्थ को पढ़ लेने पर रेतली सड़कों और साधारण हरे खेतों पर तुम उपेक्षा की निर्दय दृष्टि डालो – सच्चे स्वास लेते हुए मनुष्यों पर तुच्छता लगाओ जो तुम्हारी उदासीनता से ठिठर सकते हैं, या तुम्हारे कोप से नष्ट हो सकते हैं, जिन्हें तुम्हारी सहानुभूति, दया और स्पष्टवादी वीरन्याय से भरोसा

और काम में सहायता मिल सकती है। मैं नहीं चाहता कि तुम सच्चे मनुष्यों को भूलकर ऐयारों के लिए आह भरते फिरो।

इसी से चीजें जैसी हैं उससे वे अच्छी दिखाई दें, ऐसा यत्न किए बिना अपनी सीधी कथा कहने में ही मैं सन्तुष्ट हूँ। सिवा झूठ के मैं किसी से नहीं डरता। अपनी सबसे अच्छी सम्हाल करने पर भी उससे डरने का कारण है। झूठ इतना सीधा है, सत्य इतना कठिन है। जब लेखिनी किसी राक्षस का चित्र बनाती है तो हमें प्रसन्नता और सरलता मालूम होती है, दाँत जितने बड़े हों, और पंख जितने फैले हों उतना ही अच्छा; किंतु यदि हम सच्चा मनुष्य का चित्र खींचना चाहते हैं तो वह अद्भुत आसानी जिसे हम अपनी प्रतिभा का फल मानते थे, न मालूम कहाँ भाग जाती है। यदि अपने शब्दों को ठीक तोलकर देखें तो जान पड़ेगा कि यदि झूठ बोलने का कोई प्रयोजन न भी हो, तो भी ठीक सत्य कहना कठिन है।

सत्य के इस अद्भुत और अमूल्य गुण के कारण हमें वे सादे चित्र अच्छे मालूम देते हैं जिन्हें आपके-से उच्च विचारों के मनुष्य घृणा करते हैं। साधारण गार्हस्थ्य जीवन के सच्चे चित्रों में इसीलिए आनन्ददायक सहानुभूति मिलती है, क्योंकि फूलों की सेज, या परमधर्म, वियोगान्त जीवन या जगत् को अकचकान वाले तिलिस्म की अपेक्षा वह अधिक भाइयों के हिस्से में आता है। बिना शंका के, विमान पर चढ़े हुए देव, वनकन्या, परमहंस और जादूगरनी से हम मुँह फेर लेते हैं, और प्रेम से अपने फूलों को सींचती, या पत्ते पर भोजन करती बुढ़िया की ओर देखते हैं, जब कि मध्याह्न का प्रकाश, पत्तों के परदे में से झरता हुआ उसके चरखे को छू रहा है और उसके ताम्बे के लोटे अथवा किसी ऐसी सस्ती 'जीवन जड़ी' को चमका रहा है। 'छिः' हमारे आदर्श के प्यारे मित्र बोल उठेंगे – "कैसी ग्रामीण बातें हैं। इस विराट परिश्रम को उठाने से क्या लाभ है कि बुढ़िया का या गँवारों का ठीक-ठीक चित्र उतारा जाय? जीवन का कितना हलका चित्र है। कैसे भद्दे और जंगली मनुष्यों की चर्चा है!"

परन्तु, क्या नायक सदा ही गुलाबजल में डूबा हुआ और सोने की मूठ की तरवार से खेलता होना चाहिए? जो चीज बिलकुल सुन्दर नहीं है वह भी तो प्रेम के लायक हो सकती है? क्या यह नहीं जानते कि मनुष्य जाति के अधिक सज्जन कुरूप ही हैं, और सबसे सुन्दर जातियों में भी टेढ़े नाक और बैठे गाल बहुत कम नहीं मिलते। तो भी क्या उनमें परस्पर प्रेम नहीं होता! हमारे एक मित्र ऐसे हैं जिनका मुखारबिन्द भिड़ों के छत्ते का सा है, कुछ ऐसे हैं जिनके चेहरों पर पेशानी का मोड़ देखकर क्रोध आता है, किंतु यह निश्चय है कि उनके हृदय है, और मित्रों के हृदय उनके लिए तड़फते हैं। उनके चित्र (चाहे वे सुन्दर न हों) एकान्त में चूमे जाते हैं। कई माताएँ ऐसी हैं जो अपनी युवावस्था में भी सुन्दरी न थीं, परन्तु अपने पति के युवावस्था के प्रेम को वे सपुलक स्मरण करती हैं, और तुतलाते बच्चे प्रेम से उनके पीले चेहरे से अपनी नाक रगड़ते हैं। और मुझे विश्वास है कई महाशय – ओछे कद और दुबली मूँछों के – ऐसे भी होंगे जिसने एन्ट्रेन्स पास करते ही प्रतिज्ञा की थी कि "डाना काटा परी" या इन्द्र की परी से न्यून किसी से प्रेम न करेंगे, परन्तु कुछ अवस्था बढ़ने पर उसने प्रसन्नतापूर्वक भैंडी पत्नियों के साथ जीवन बिताया है। इन सब बातों के लिए परमेश्वर का धन्यवाद है। मनुष्य

का भाव उन विशाल नदियों की तरह से है जो पृथ्वी को शोभित करती हैं। यह सुन्दरता के लिए प्रतीक्षा नहीं करता परन्तु अरुद्ध वेग से दौड़ता है और अपने साथ सुन्दरता लाता है।

स्वरूप की देवी सुन्दरता को उचित सम्मान के साथ प्रणाम है। मनुष्य में, स्त्रियों में, बागों में, घरों में, यह सबसे अधिक विराजै। परन्तु हमको उस दूसरी सुन्दरता को भी प्यार करना चाहिए जिसका रहस्य देह की गठन नहीं है परन्तु गम्भीर मनुष्य-सहानुभूति है। यदि सामर्थ्य है तो ऐसे देवता का चित्र खींच दो जिसके आसमानी वस्त्र हों और चेहरे पर दैवी प्रकाश की आभा का मण्डल हो, ऐसी राधा का चित्र खींच दो जो दैव भगवान की प्रतीक्षा में हाथ धरे अपने सुकुमार मुख को सुखा रही है, परन्तु हम पर उन कल्पित नियमों को मत चलाओ जो उपन्यास या सुकुमार शिल्प के राज्य में से अपने काम से घसे हाथों से आलू उबालती हुई बुढ़ियाओं को, उन गोल पीठों और सब ऋतुओं को सहने वाले चेहरों को जिनने हल और कुदाली पर झुक-झुककर काम किया है, होली में थोड़ी-सी भांग पर मस्त गँवारों को, उन पीतल के बरतनों वाले घरों, मट्टी की हंडियों, लेडी कुत्तों, और प्याज के छिलकों को निकाल दें। इस जगत् में ऐसे सीधे-सादे भोंटे आदमी इतने अधिक हैं, जिनमें कृत्रिम उपन्यासों के लायक सहानुभूति नहीं है। उनके यहाँ होने को हम स्मरण रक्खें यह अत्यन्त आवश्यक है। नहीं तो हम अपने धर्म और दर्शन में उनकी चर्चा बिलकुल छोड़ जाएँगे, और उच्च कल्पनाएँ बना लेंगे जो केवल असम्भव जगत् में ही घटेंगी। इसलिए कल्पनामय उपन्यासों को चाहिए कि हमें सदा उनका स्मरण कराते रहें, इसलिए हमें ऐसे उपन्यास-लेखक चाहिए जो प्रेममय परिश्रम से इन साधारण वस्तुओं के सच्चे चित्रांकन करें, ऐसे मनुष्य जो इनमें सुन्दरता देखते हैं और जिनको यह दिखाने में आनन्द आता है कि स्वर्गीय प्रकाश इन सीधी वस्तुओं पर किसी तरह पड़ता है। संसार में बहुत कम महापुरुष होते हैं, बहुत कम परम सुन्दरी स्त्रियाँ होती हैं, बहुत कम वीर होते हैं। इन विरले असम्भवों को मैं अपना सम्पूर्ण प्रेम और सम्पूर्ण सहानुभूति नहीं दे सकता, मेरे प्रेम के भाव का अधिकांश मुझे अपने प्रतिदिन के साथियों के लिए चाहिए, विशेषतः उनके लिए जो सदा मेरे पास हैं, जिनके चेहरे मैं जानता हूँ, जिनके हाथ मैं छूता हूँ और जिनके लिए अदब के साथ मुझे मार्ग छोड़ना पड़ता है। चमत्कारी ऐयार और अद्भुत हत्यारे अपनी रोटी आप खाने वाले स्वतन्त्र मजदूर से अधिक मिलते भी नहीं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि मुझ में स्नेह की एक तन्तु तो बचे जो मुझे उस मैले कपड़ों वाले भाई से मिलावे जो मेरी शक्कर तोलता है इसकी अपेक्षा कि मैं अपने स्नेह को ज़री की टोपी पहनने वाले कल्पित दगाबाज पर अपने भावों को 'भस्मनिहुतम्' करूँ। यह आवश्यक है, मुझे पड़ोसियों के सुख-दुःख से सहानुभूति हो, और न उन कल्पित नायकों से जो कहासुनी में ही हैं अथवा जो आदर्श उपन्यास-लेखक के आदर्श ही हैं।[1] समझे ?

— वही चिट्ठी वाला

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-अप्रैल, 1905 ई.)

1. श्रीमती जार्ज इलियट की छाया, एडम बीड से।

9

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास

I

अब तक हम यही जानते थे कि पवित्र दम्पति-प्रेम के उन चित्रों को, जिनका पर्दा लज्जा के मारे, पवित्रता के ख्याल से कोई मनुष्य वा लेखनी नहीं उघाड़ सकती, सरे बाज़ार रखने में पं. किशोरीलाल गोस्वामी Revel करते हैं, मज़े लूटते हैं, किन्तु अब मालूम हुआ कि बलात्कार, पाशविक दुराचार, हत्याकाण्ड विदूषण प्रभृति के उद्‌वेगजनक चित्रों में भी वह अधिक रुचि से Wallow करते हैं। लीलावती, लाडली और तारा की लज्जा यों उघाड़ी जाकर सही भी जा सकती थी, क्योंकि उसका उघाड़ना पवित्रता से सुवासित था, किन्तु देखते हैं, गोस्वामीजी को गन्दे चित्र उघाड़ने में मज़ा आता है। कलावती की गन्दी अठखेलियाँ खाली लीलावती के मुकाबिले के लिए ही नहीं बताई गईं, किन्तु उनके लेखक की रुचि झलकती है। जहानआरा और रोशनआरा का कल्पित व्यभिचार इसलिए नहीं लिखा गया कि उससे तारा के पवित्र चरित्र पर छाया पड़े, किन्तु इसलिए कि लेखक को इन वर्णनों में मज़ा आता है। यों ही चपला को नंगे करने की कोई dramatic necessity न थी, कि उसके बिना नाटक ही अधूरा रह जाता। चपला को बाल बराबर बचाकर गोस्वामीजी रेनाल्ड की उस घृणित चतुराई की नकल (भद्दी नकल) कर रहे हैं जिसने Mary Price को कई दफ़ा पूरे सर्वनाश से बचा दिया। सम्भव है कि गोस्वामीजी इसी राह पर चलने Rosa Lambert की नकल करने की बहादुरी लूटकर हिन्दी-साहित्य को गन्दा करें और लीलावती की बहन का हाल देने की उनने प्रतिज्ञा भी की है। एक धर्माचार्य की लेखिनी से – उस लेखिनी से जो जुबिली का अभिनन्दन देती बेर किसी वैष्णव समाज के प्रेसीडेन्ट की कलम बन जाती है – ऐसी घटनाएँ निकलना हिन्दुओं के लिए, हिन्दी के लिए और साहित्यमात्र के लिए लज्जा की बात है। जिन दिनों आजकल की ऐयारी की तरह Knight-hood का खब्त यूरोप को बरबाद कर रहा था, पादरी लोग उस स्रोत को रोकने के लिए उसके विरुद्ध धर्मात्माओं के चरित्रांकन करते थे। क्या हमारे गोस्वामीजी पवित्र चरित्र लिख ही नहीं सकते? क्या हिन्दी ऐसे कायरों की भाषा हो गई है जो मरे बादशाहों की बालाओं पर सच्चे-झूठे कलंक मढ़ने और अबलाओं के कुछ धर्मनाश की कहानियाँ ही सुना करें? हमारा स्वर नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह भले ही सुना न जाय, किन्तु हम अपना कर्तव्य समझते हैं कि हिन्दी-पाठकों को इन प्रपंचों के विरुद्ध अपील करें। इनके पक्षपाती कह सकते हैं कि अन्त में सच्चे का बोलबाला दिखाकर हम उपदेश करते हैं, किन्तु इसमें बड़ी भूल है, पुस्तकें आजकल जो काम कर रही हैं वह बड़ा भारी है। जगद्‌गुरु गद्दी के

स्वामी का जितना बल नहीं है उससे अधिक बल से पुस्तकें उपदेश कर सकती हैं। उदाहरण का फल भी बड़ा संक्रामक है। सौ पीछे 90 पाठकों के जी पर तो घटना पढ़ते ही वज्रलेप हो जाती है और वे परिणाम को नहीं देखते। मनुष्य की पापश्रवण-प्रकृति परिणाम से शिक्षा न लेकर यह कहती है – "अमुक पापी का पराजय अमुक चूक से हुआ, हमें उससे बचना चाहिए।" अन्त की दो पंक्तियों में दौड़े-दौड़े पापी को मारने और बीच के अध्यायों में पाप-कथा लिखने का फल कब अच्छा होगा ? बीमारी का हाल जानना ही बुरा है, उन रहस्यों से परिचय होना ही पाप है। "मुख्यस्तू पाय एतेषां निदानं परिवर्जनम्" इलाज से रोकना अच्छा है। पोप कवि ने खूब कहा है –

दुस्कर्म है एक महापिशाच,
कुरूप है ताकहं सर्व गात।
निहारते मात्र घृणा अवश्य,
अत्यन्त ते ही करते मनुष्य।
देखें जु ताको हम बारबारा,
तद्रूप से ह्वै परिचै हमारा।
सहन करें तत्स्थिति को दया से,
सप्रेम आलिंगन दें हिया से।

– Popes Essay on Mars

गोस्वामीजी के ग्रन्थ सभ्य समाज में कदापि अमर नहीं हो सकते, यदि वे इस रीति का यों ही अनुसरण करते रहें।

तारा उपन्यास में स्थूल भूलें ही बहुत हैं। नायिका तारा बिचारी अबोध बालिका है जो बात-बात में रम्भा के हाथ की गुड़िया बनी है। रम्भा के प्रौढ़ छलों में जिस भोलेपन से वह मिल गई है वही असम्भव और सन्देहजनक है। इस 'आओ बैल मुझे मारो' ढंग से म्लेच्छों में कूदना नई बात है। और फिर इसी भोली कन्या से रसीले कवि ने वह पक्की चिट्ठी लिखाई है कि वाह !

II

गत बार पं. किशोरीलाल गोस्वामीजी के उपन्यासों पर जो नोट लिखा गया था उसमें एक भूल रह गई है। चपला की लज्जा नहीं बेची गई है, किन्तु उसकी बहन सौदामिनी और कामिनी का सतीत्व गन्दी तरह खतरे में लाया गया है। अब हम चपला के प्रकाशित दो भागों के चरित्रों की समीक्षा में कुछ लिखने में समर्थ हैं।

प्रथम तो यही पूछना है कि उपन्यास का नाम "चपला" क्यों रक्खा गया ? चपला के विवाह की रात को उसका वर लापता हो गया और जब उस कुटुम्ब पर आपत्ति आई तो कोई चपला को उड़ा ले गया ! बस, इसके सिवाय चपला का उपन्यास के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। दो भागों तक प्रधान नायिका background नेपथ्य में रखी गयी है, आगे भी हमें यह आशा

नहीं होती कि दो भागों में गोस्वामीजी उसी-उसी की बात कहेंगे। और भी तो कई झमेले सुलझाने है। हाँ, उपन्यासों की नायिकाओं के लिए गोस्वामीजी ने नये नियम बनाये हों, तो क्या कहना !

अब, दुर्भाग्य के मारे शंकरप्रसाद और योगमाया को छोड़कर बाकी चरित्रों को तो जरा तोल देखिए।

हरप्रसाद	:	शंकरप्रसाद का ज्येष्ठ पुत्र, भला और योग्य, भाई की नौकरी लगवाता है, किन्तु उस पर नोट चुराने का कलंक व सन्देह होता है। बड़ा ही गम्भीर है, कर्जदारों को नहीं गिनता, किन्तु घर पर आपत्ति का पहाड़ टूटते ही सती स्त्री (जिस से वह कई बातें छिपा रहा था) और अनाथ बहनों को छोड़ भागता है। कैसा असम्बद्ध चरित्र है।
शिवप्रसाद	:	भाई की भक्ति से, उस पर नोट की चोरी का सन्देह होने पर भी, स्वयं आपत्ति ओढ़ता है, और इस निःस्वार्थता के कारण जेल जाता है।
मालती	:	हरप्रसाद की स्त्री, आदर्श हिन्दू रमणी, पति को देवता मानकर विश्वास करने वाली। अपना गहना कील-कील बेच देती है, अनाथ ननदों को सम्भालती है, किन्तु पति का विश्वास नहीं पाती और क्षय रोग से पीड़ित होती है।
सौदामिनी	:	बाल विधवा ननद शोहदों के द्वारा छेड़ी जाती है, चाचा के द्वारा बेइज्जत होती-होती बचती है, सत्यानाश करने वाले श्रीनाथ और कमल किशोर को चकमा देकर भागती है।
कामिनी	:	राक्षसी कन्या होने के कारण कुमारी। हरिनाथ के अंग प्रत्यंग चुंबन को सहन करती है और श्रीनाथ, कमल किशोर के द्वारा नंगी की जाकर दैवी कला ही से हरिनाथ के द्वारा बचाई जाती है।
हरिनाथ	:	एक good for nothing निखट्टू, सिड़ी, धनी आदमी जिनके हृदय में दया है, किन्तु असभ्य देह में छिपी हुई। सन्देह होता है, उनकी दया स्वाभाविक न थी, किन्तु कामिनी के अंग-प्रत्यंग चुम्बन के खरीदने का उपाय था क्योंकि वे एक ब्राह्मण को लत्ताप्रहार कर चुके हैं। वे बड़ी पैरवी करते हैं असहाय कुटुम्ब के ईश्वर हैं, किन्तु सिड़ी की तरह विलायत भागते हैं। कामिनी को पाशविक अत्याचार से बचाते हैं।
श्रीनाथ	:	दुराचारी, लम्पट, नरपशु।
नवलकिशोर	:	नरपिशाच, उसका मित्र, तथैव च।
रमानाथ	:	शराबी, भ्रष्ट।
गुलाब	:	रमानाथ की स्त्री, रमानाथ के व्याभिचार का बदला लेने के लिए नौकर कमीने संभू से फंसती है। (सबसे गन्दा अंश)

चमेली : गुलाब की ननद। दुराचारिणी, नैहर में रहकर बिगड़ी हुई, पति का स्पर्श उसे काँटे-सा मालूम होता है। योग्य पति को छोड़, औरस पुत्र को फैंक, एक शोहदे के साथ उड़ जाती है, जो उसका रेल ही में सर्वनाश कर देता है।

मदनमोहन : चमेली के पति। योग्य दयावान् किन्तु उनको गृहस्थ सुख नहीं है, घर छोड़ कर भागते हैं।
(उनकी बहन उनको चाहती है ! ! ! !)

ललिता : मदनमोहन की सम्बन्ध में बहन, किन्तु उसको अपना हृदय अर्पण कर चुकी है।

बुधिया की माँ : स्वामीभक्त किन्तु वाचाल।

अब हम सबसे पूछते हैं कि इन चरित्रों में क्या कोई एक भी ऐसा है जिससे हमारे हृदय को आमोद मिले, जिससे मन प्राण ऊँचा उठे, जिनको दिखाकर गोस्वामीजी अपने कर्तव्य के अनुसार हमारे से मोरी के रेंगते कीड़ों को उन्नत करें ? कोई भी नहीं। हाँ, दो तो रह ही गए –

कादम्बिनी : भोलीभाली, शायद हत्यारे को प्रेम करती है।

ब्रजकिशोर : उदार राजा का पुत्र, किन्तु शायद नरहत्या करने वाला।

हरप्रसाद एकान्तवासी होता है, मदनमोहन पिशाचिनी स्त्री से जोड़े जाकर भागते हैं, सती मालती मारी जाती है, विधवा सौदामिनी को दो दफ़ा ईश्वर बचाता है। यह क्या लीला है ? यह क्या ग्रन्थाकार का कर्तव्य पालन है ? एक भी चरित्र ऐसा नहीं है जिस पर हमारी नज़र टिके, जिसके सुवास में हम श्रीनाथ प्रभृति की दुर्गन्ध से अपना पिण्ड छुड़ावें।

गुलाब का लम्प बुझाकर संभू को अपने पास लिटाना, बटुकप्रसाद का चकमा, चमेली का रेल में सर्वनाश, कामिनी का नंगा किया जाना, ये चित्र बड़े ही गन्दे हैं। इनसे कौनसा Inspiration होता है ?

हाँ, क्या गोस्वामीजी यों चलते-चलते चारों बहनों को बचा देंगे, वा Requoted की तरह एक को किसी की खानगी बनाकर मानेंगे।

गोसाईंजी ने एक टन्टा और छेड़ा है, ललिता का अपने भाई से प्रेम। यहाँ वह सब broken heart वगैरह बातें आ जाएँगी।

एक और मज़ा देखिए – संसार का सबसे बड़ा जो रहस्य है, जिस तत्व पर ही ईश्वरवाद की जड़ है, उस "यतो वाचो निवर्तन्ते" विषय पर, अर्थात् पाप पुण्य का बदला यहाँ क्यों नहीं मिलता, इस पर गोस्वामीजी एक जगह कहकहा लगाते हैं।

किन्तु हाँ ! अजब संसार की रीति है ! जिन लोगों का धर्म और ईश्वर पर इतना अचल विश्वास है वे क्यों इतना दुःख उठाते हैं, इसका मर्म कुछ समझ में नहीं आता (चपला, भाग 2, पृष्ठ 45)। चपला के अभी दो भाग और निकलने हैं, और हमें उनके बारे में बहुत कुछ कहना पड़ेगा क्योंकि भारतेन्दु के नाटक की तरह गोस्वामीजी एक उपन्यास का ग्रन्थ लिखने वाले

हैं।

गोस्वामीजी महाराज से हमारा निवेदन है कि वे बुरा न मानें। हम जो कहते हैं सो उनके ग्रन्थ पर, उनके लिए हमें आदर है। जब वह गम्भीर लेख लिखते हैं तो वैसा लिखने वाले बहुत थोड़े मिलते हैं। किन्तु पाठकों! जिस कलम से लंका, कलिंग राज्य और गंगावतरण निकले थे, उसी कलम से यह सब निकलता देखकर हम कहते हैं – भली सूरत को छुपाते हो, बुरा करते हो!

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर 1903 ई.)

10

सुदर्शन की सुदृष्टि

ज्ञानिनामपि चेतांसि दैवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहायमहामायाप्रयच्छति ॥ (दुर्गापाठ)

तो क्या गद्यकाव्य के विषय में अनिष्णात आरम्भकर्त्ताओं की ही सब नकल करते जाएँ ?
(गद्यकाव्य-मीमांसा : पृष्ठ 19)

'सुदर्शन' की सुदृष्टि अब उपन्यासों पर हुई है। उसकी तीन संख्याओं में उपन्यासों की प्रतिष्ठा पर लेखक की आस्था की अवस्था अच्छी तरह दिखाई गई है। यह तो कोई बात नहीं कि पं. माधवप्रसाद ने किसी बात की हिमायत कर दी तो फिर उसकी न्याय्यता में सन्देह भी न करना[1] तथापि, जब से यह विषय छिड़ा है 'सुदर्शन' और 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' अपने मतों को बहुत कुछ सुधारते-सुधारते एक-दूसरे के पास ले आए हैं, यहाँ तक कि अब उनका मिलना बहुत ही सुकर है। सम्भव है कि 'सुदर्शन' से बातचीत करना हमारे ही पत्र का मानवर्धक हो, इसलिए "मित्रं स्पष्टतया वदेत्" के अनुसार हम कुछ बातें कह देते हैं।

1. "हमारी समझ में यह बात सर्वांगपूर्ण न होने पर भी निर्मूल नहीं कही जा सकती" कि अपनी पुस्तकों के न बिकने से 'समालोचक' काशी के उपन्यासों की निन्दा करते हैं। 'अथ समालोचक सुहृद्भूत्वाह' – क्यों जी ! तो वे तुलसी कृत 'रामायण' की निन्दा क्यों नहीं करते जो काशी के उपन्यासों से कई गुने अधिक बिकती है और जिसे छापकर कोई प्रेस भूखा न रहा ? "काशी वालों की पुस्तकों की ओर लोग ऐसे टूटें कि हाथों हाथ सब प्रतियां उठ जाएँ।" इसके मोटी बुद्धि से यही कारण हो सकते हैं –

1. काशी वालों से अच्छा लेखक और कोई नहीं।
2. काशी वाले उपन्यासों से अच्छे उपन्यास ही नहीं।
3. लोगों की रुचि कलुषित है।

पहले दो कारण व्याप्तिग्रस्त हैं, यह तो वह भी कह सकता है जो हिन्दी-साहित्य में चार दिन का भी निष्णात हो। इससे कारण '3' शेष रहता है इसीलिए समालोचना का जन्म है। विशेष समय का विशेष व्यक्ति लक्ष्यच्युत हो जाय तो दूसरी बात है।

2. हिन्दू धर्म पर व्याख्या देने वालों से तुलना (बैसाख, पृ.26), इसके क्या माने ? साहब ! मूर्ख धर्मोपदेशकों की जो अन्धाधुन्ध स्तुति की जाती है, क्या वैसे ही मूर्ख उपन्यासकारों की

---

1. ए अभिमानी मुरलिया ! करी सुहागिन श्याम।
अरी चलीये सवन पै भले चाम के दाम ॥

भी अन्धाधुन्ध स्तुति की जाय ? उस धूम-धड़क्के का परिणाम न सोचें ? सहयोगी का यह ख्याल होगा कि उसने ऐसे वक्ताओं को चूरणवालों से एक बेर उपमा दी है तो भद्दे उपन्यासों की भी वही निन्दा करे और पत्र, जो उपदेशकों की स्तुति करते हैं, क्यों निन्दा करें ? तो हम 'सुदर्शन' को बधाई देते हैं कि उसे converts मिले। धर्मोपदेश, अयोग्यमुख से निकलने पर भी लाभ पहुँचता है, उपन्यास सुयोग्य विद्वान से लिखा जाने पर भी विलास मात्र ही है।

3. ऐयारीवाले उपन्यासों के पहले आपके भण्डार में कौन से उपन्यास थे ? मान लीजिए कोई नहीं, तो फिर ? गद्यकाव्य-मीमांसा का ऊपर लिखा टुकड़ा पढ़िए।

4. असम्भव का अर्थ – साधारण दृष्टि से जो बात सम्भव न दिखाई दे, उसे असम्भव मानना होता है। विज्ञान के प्रचार के पूर्व जल को एक समूचा द्रव्य माना जाता था, किन्तु अब अवश्लेषण ने जो उद्‌जान और क्षारजान का फल सिद्ध कर दिया, तो 'असम्भव' सम्भव हो गया। सम्भव असम्भव की कल्पना सापेक्ष है सही, निरपेक्ष absolute नहीं हो सकती तथापि इस सापेक्ष जगत् में हम जिस प्रकार मात्रास्पर्श द्वन्द्वों के भेद को मिटा नहीं सकते, वैसे ही सम्भव असम्भव के भेद को मिटा नहीं सकते। यदि असम्भव शशश्रृंग बन्ध्यापुत्र प्रभृति तीन ही चार अर्थों में रूढ़ हो तो हमने (8) में जो बात लिखी है वह पं. मिश्र के लक्षण से मिलने के कारण सम्भव है। अशशश्रृंग अबन्ध्या पुत्र वा अकारण कार्य क्या सभी सम्भव हैं ? क्या सम्भव/1 असम्भव/2 में जो सम्बन्ध है, वही बन्ध्यापुत्र अबन्ध्यापुत्र में है ? विभाज्यतावच्छेदक तो परस्पर व्याधिकरण होने चाहिए, सम्भव है कि अबन्ध्यापुत्र भी कोई पदार्थ असम्भव हो। 'चन्द्रकान्ता' वेदान्तियों के पढ़ने के लिए नहीं बनी है, बनी है युष्मदस्मद् भेद को न मिटा सकने वाले अध्यासलिप्तों के लिए। इसीलिए उनकी दृष्टि में सम्भव असम्भव का भेद नहीं मिट सकता। 'कृपा करके कोई' हमें बतलावे कि छोटे आदमी का बड़ा बनना और लम्बे का ठिगना बनना शशविषाण सदृश है व नहीं ?

(5) (6) (7) कादम्बरी, मैकबैथ और मेरी प्राइस वा फौष्ट ?

स्मरण रहे, जगत् के सब व्यवहारों में कोई-न-कोई बात ऐसी रह जाती है जिसको हम बिना दैवी प्रभाव माने समझ नहीं सकते। कोई घटना साधारण पंक्तियों पर चली जा रही है अचानक घटनाक्रम का बदल जाना या रुक जाना और तद्द्वारा और अच्छे या बुरे फल का उत्पन्न होना, यह जगत् में विरला नहीं है। निरीश्वरवादी इसे प्रकृति का खिलवाड़ मानते हैं और ईश्वरवादी इसे परमेश्वर की निर्णायक शक्ति या design का परिचय मानते हैं। यदि नाटक और उपन्यास mirror of nature प्रकृति के आईने का काम देते हैं तो उनमें अवश्य प्रधानतया मानुष-भावों का चित्रण आवश्यक हुआ। किन्तु मानुष-भावों में presentiment, telepathy, पूर्वनिश्चय भाव-संवाद प्रभृति होते हैं। किसी मनुष्य की प्रेयसी मरती है उसी काल में अज्ञात कारणों से उसको दुःख उत्पन्न हुआ। किसी काम में विघ्न होना है उसमें पहले ही से अनुत्साह जी विराजमान हैं। इन घटनाओं का क्या किया जाय ? इन्हें दिखाने के लिए नाटकों में divine machinery वा Dieux et machina दैवी कला प्रविष्ट की जाती है जो dramatic unity नाटकीय एकता के विरुद्ध नहीं होती। 'कादम्बरी' में जो नायिका का तीन

जन्म तक जीवित रहना है यह उपन्यास के परिणाम के लिए आवश्यक है, वह उपन्यास के चरम वर्णों में अनुस्यूत है उसे पृथक् करने से कई बातों की जान मारी जाएगी बेशक, किन्तु उसे अलग भी कर सकते हैं। मैकबैथ में यह आवश्यक है कि मैकबैथ को उसके भावी जीवन की सूचना मिल जाय, और उसकी मानसिक अशान्ति का बीज वाप हो। साथ-ही-साथ उसके हाथ से नृशंस कर्म भी कराए जाएँ यह सूचना और आगे चलकर उसका धोखा खाना नाटक के निभाने के लिए आवश्यक है। उसे चाहे भूतनियां करें या आकाशवाणी करे, किन्तु यह ग्रन्थ से निकाली भी जा सकती है। मेरी प्राइस में न मालूम स्वप्न-विचार कहाँ कहा गया है। किन्तु यदि हमें छह वर्ष की बात याद हो तो वह वहाँ है जहाँ मेरी प्राइस की स्वामिनी का कहीं विवाह होने वाला है और मेरी प्राइस अपने वाग्दत्त की चिट्ठी से स्वामिनी के पति के मुमूर्ष होकर बचने की बात जतलाती है और स्वामिनी के विवाहान्तर में भांजी मारती है। वहाँ भी उसकी dramatic necessity है। लेखक और पाठक घबरा रहे होंगे कि इस काकदन्त गणना से हम क्या फल निकालेंगे, किन्तु हमारा अभिप्राय सिद्ध हो गया। इन सब ग्रन्थों में असम्भव घटना गौणरूप से प्रवेश की गई है, उसे निकाल दें तो ग्रन्थ के एक या दो अंगों के अतिरिक्त और सबको कोई क्षति नहीं पहुँचती। 'चन्द्रकान्ता' में से तो जरा ऐयारी को निकाल दीजिए, क्या रहता है ? सूखी खाल और हड्डियां और देवकीनन्दनजी की भद्दी भाषा ! यदि शब्दों के मजाक को क्षमा किया जाय तो, हम कह सकते हैं कि इन उपन्यासों में विचित्र घटना कथा की सहायता करती है किन्तु 'चन्द्रकान्ता' में कथा विचित्र घटना की सहायता करती है। फौष्ट और वेहर वुल्फ की बात कुछ न्यारी है किन्तु उनके लिए भी यही बात समष्टि रूप से लगती है। प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में विचित्र घटना गौण रूप से बीच में डाली है, किन्तु फौष्ट सरीखों में उससे आरम्भ है। फौष्ट नेकोमेन्सर में आत्मा का बेचना और वेहर वूल्फ में भेड़िया बनना प्रथम से है, शेष घटनाएँ सब प्राकृतिक हैं। 'हाँ', बीच-बीच में आदि सूत्र से मिलान कर दिया जाता है। 'चन्द्रकान्ता' इन सबसे भी एक कदम आगे बढ़ गई है। उसका या 'सन्तति' का कोई अध्याय उठा लीजिए, देखिएगा कि असम्भव घटना को निकाले बाद उसमें कुछ नहीं है — it is too empty to be looked upon!!

आषाढ़ के 'सुदर्शन' में ऐयारी की पुष्टि के लिए 'मुद्राराक्षस' नाटक का भी नाम लिया गया है और 'चन्द्रकान्ता' छपती बेर रामायण के सीताहरण को भी 'ऐयारी' कहा गया था। यों तो इन्द्रवृत्र के युद्ध को वा सरमा और पणियों की बातचीत को ऐयारों की चालें बताकर 'वेदभगवान्' को भी चन्द्रकान्ता का वकील बना सकते हैं और उस दिन एक मित्र के निवेदन करने पर हमने अद्वैतब्रह्मपरक श्रुतियों को फ्री ट्रेड और प्राटेक्शन पर घटा दिया था किन्तु 'मुद्राराक्षस' की बात भी मैकबैथ और मेरी प्राइस में अन्तर्भूत हो गई। वहाँ भी विचित्र कलाएं गौण तथा प्रधान कथा की सहायता करती हैं और प्रधान कथा विचित्र कलाओं के साथ नाचती नहीं फिरती। एक और मजे की बात देखिए। 'कादम्बरी', 'मैकबैथ', 'मेरी प्राइस', 'फाष्ट' या 'मुद्राराक्षस' पढ़ने पर क्या स्मरण रहता है ? नाटक पात्रों की सजीवता, उनकी चेष्टाएँ उनका चरित्रांकन, उनका व्यवहार, कथा-परिणाम प्रभृति। विचित्र घटनाओं का टाँका अपना काम कर

चुका और सारी पोशाक में टाँकों की तरह वह अब दिखाई नहीं देता। 'चन्द्रकान्ता' के प्रेमियों को उसी की शपथ है, उसका पारायण किए बाद क्या याद रहता है? कथा भाड़ में गई, चरित्रांकन की बात ही नहीं, चरित्रों में सजीवता की बात कहाँ, भाषा भी नहीं, केवल ऐयारी दैवी और तिलिस्मजी महाराज! और साथ ही गुण्डे शोधे ऐयार villains of the play.

8. उपन्यास का मुख्य गुण विचित्र घटना है! सच्चे ही; तो फिर इससे अच्छा उपन्यास कौन है कि "एक हाथी के पीछे एक गीदड़ दौड़ा। हाथी डाल-डाल तो गीदड़ पात-पात, हाथी वृक्ष पर चढ़ा कि उसने कहा – हट हट, पर चढ़ के गीदड़ भी ऊपर चढ़ आया। सामने नदी के दूसरे पार धोबी कपड़े धो रहा था उसने छींका तो उस छींक पर सवार होकर हाथी पार चला गया।" उत्तरोत्तर संगत और कौतूहलवर्धक हो सही। किन्तु हो विचित्र! भरपेट हो, जायकेदार हो, किन्तु हो चटनी ही!! कमर कसकर समाधान करने तो बैठ गए, किन्तु यह न सोचा कि जब रोगी पित्तज्वर से अभिभूत होता है तो उसे अनारदाने की चटनी ही अच्छी लगती है। और कोई भी भोजन उसे अच्छा नहीं मालूम होता। किन्तु स्वस्थ आदमी ही जानते हैं कि दाल-रोटी में क्या स्वाद है। अतएव हमने कहा था कि ऐसे उपन्यास बीमारी के दिन के उपन्यासों (Romances) की नकल हैं। बीमार की रुचि खोलने का काम इस चटनी ने दे दिया अब क्या जन्म भर इसे ही खाया करोगे? पेट तो दाल-रोटी से ही भरेगा।

9. 'चन्द्रकान्ता' में कोई दोष नहीं है, यह दावा नहीं है।

10. इसके गुणों पर भी ध्यान देना उचित है।

11. 'गद्यकाव्य मीमांसा' की दुहाई शायद इसलिए दी गई है कि उसमें घटना के संभवासंभव होने से, या ऐतिहासिक, कल्पित और मिश्र भेद से (पृ.52, 50) उपन्यासों के भेद माने गए हैं। (कारिका :52 और 65); किन्तु पं. व्यास के उनचास अर्बुद, छह करोड़, एकतालिस लाख, अठानवे हजार चार सौ उपन्यासों में इन चार घटकों को छोड़ बाकी क्या हुए? 'गद्यकाव्य-मीमांसा' में से एक टुकड़ा ऊपर दिया गया है। एक और सुन लीजिए। "देशकाल आदि के वर्णन में स्वभाव सिद्ध वर्णन करें, अस्वाभाविक बहुत ऊटपटाँग न हाँके।" (पृ.38) एक और भी बात है। चाहे गद्य काव्य का सूत्रपात हमारे प्राचीन आचार्यों ने कर दिया हो, किन्तु वर्तमान उपन्यासों की सृष्टि पश्चिमी नमूनों पर हुई है। यद्यपि 'पंचतन्त्र' प्रभृति से हमने ही पश्चिम को कथा-प्रबन्ध सिखलाया था, किन्तु वर्तमान उपन्यासों की रचना और जीवन में यूरोपीय उपन्यास बड़ा भारी भाग ले चुके हैं। साहित्याचार्य का लेख प्राचीनों की भूल पकड़ने और पण्डिताई से नए-नए विभाग करके कुछ दिग्दर्शन दिखा सकता है, किन्तु यूरोप का भी इस विषय में सुने जाने का अधिकार है। पाश्चात्य देशों में उपन्यास की उत्पत्ति और उन्नति तो हम एक स्वतन्त्र लेख में दिखाएँगे, किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि यूरोप के सभी देशों में विचित्र वर्णनकारी रोमेन्सों की रचना मारी गई है।

अब के उपन्यासों में "चरित्रों का दार्शनिक अध्ययन, राजनैतिक और सामाजिक काकु, ब्रिटिश गृहचर्या का उदार और समालोचना पूर्ण चित्र, वर्तमान दुराचारों के विरुद्ध प्रबल

जिहाद" पाया जाता है ।[1] "उपन्यासों की अधिक बिक्री और अधकचरे मनुष्यों की उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति से यद्यपि ठीक उपन्यासों की चाल नहीं पाई जाती तथापि यह प्रत्यक्ष है कि अंग्रेजी औपन्यासिकों की कल्पना छोड़ गई है । यही नहीं कि इंग्लैण्ड प्राकृतिक प्रवृत्तियों वाला हो गया है, किन्तु वहाँ व्यापारी उपन्यास, जहाजी उपन्यास, सामाजिक उपन्यास, साम्राज्योपन्यास भी फैल गए हैं । अयोग्य ग्रन्थ 50 वर्ष तक लोगों की स्तुति के पात्र न रह सकेंगे । उपन्यासों की साहित्य शक्ति के कम होने से तब तक थकावट और रुकावट जारी रहेगी जब तक सारा Romantic mode रोमेन्सकाल का प्रभाव मिटकर और अच्छे साहित्य को स्थान न देगा ।"

12. 'महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः आहोपुरुषिका मात्रं हि खलु भवामाह ।' जितना प्रयोग ऊस, तेर, चक्र, पेश, आदि शब्दों का है उतना ही इन उपन्यासों का भी रहने दीजिए, अस्ति भवति, वा "गौः ग्मा ज्या" की तरह इनका प्रयोग थोड़ा ही है ? इसलिए इतना ही प्रयोग का विषय है, कहना असम्बद्ध नहीं है, स्थूल दृष्टि से ठीक है ।

13. "क्या सम्भव है और असम्भव है, यह जानना ही मनुष्य के लिए असम्भव है ।" खैर, एक बात तो असम्भव निकली ! धन्यवाद ! ! इस बैशाख की संख्या का उत्तर देते हुए सहयोगी 'वेंकटेश्वर' ने बहुत कुछ इधर-उधर जाना चाहा है । कई बार अप्रासंगिक बातें कहकर प्रासंगिक बातों को टाला और अपने सहयोगियों को आगे करके स्वयं निकल भागना चाहा है । इन सब बातों की आलोचना यहाँ करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु 'श्रीवेंकटेश्वर' की शान्ति और सौम्यता की जो स्तुति की जाय वह थोड़ी है । बिना विवाद के किसी बात का पूरा निश्चय नहीं होता, शायद इसीलिए 'सुदर्शन' ने ज्येष्ठ की संख्या में इस बारे में फिर लिखा । उसका अधिकांश यद्यपि शुष्कविवाद पर ही झूमता है, तथापि उसकी कुछ बातों पर थोड़ा-बहुत लिखकर इस लेख को, और इस विषय को हम समाप्त करेंगे ।

ज्येष्ठ का 'सुदर्शन' पृ. 20 प्रभृति –

1. "सब जानते हैं कि जोधपुर और जयपुर के नरेशों ने मुगल बादशाहों को लड़कियाँ दी थीं, इस कारण उन्होंने उस समय मुसलमानों की प्रसन्नता के लिए कुछ न उठा रक्खा ।" प्रथम साध्य से द्वितीय सिद्ध किया गया है, व दोनों अनुमानों में अभेद है । व दूसरे से प्रथम सिद्ध किया जाता है । यदि इन नरेशों ने लड़कियाँ दी थीं इस बात को सब लोग झूठ जानते हों तो ?

2. निज के प्रेस में चाहे जो अनाप-शनाप छापे इत्यादि (पृ. 21); पत्र-सम्पादक और यन्त्रालय-चालक के कर्तव्य को एक कर दिया गया है । यों motive चिपकाना ठीक नहीं । पत्र-सम्पादन और दृष्टि से होता है, या और व्यक्ति से होता है, ग्रन्थ-मुद्रण और से ।

3. यद्यपि सनातनधर्मदीपक के लिए हमें 'सुदर्शन' का-सा ही दुःख हुआ है और उस

---

1. Cf. the Encyclopaedia Brittanica, Tenth Edition. Supplementary Volumes, under "English Literature."

विषय में हमारे विचार उससे मिलते-जुलते ही हैं तथापि यह दोष 'वेंकटेश्वर' पत्र का नहीं है और न यह कहना ठीक है कि "क्या मारवाड़ियों की बहू-बेटियों के लिए 'श्रीवेंकटेश्वर' का महाप्रसाद रसिक छ00" जैसा ही होना चाहिए ?

भ्रम किसका है ?

1. "चन्द्रकान्ता" में असम्भव बातें नहीं हैं और वैसी आश्चर्यमयी घटना उपन्यास में दोषावह होने के बदले गुणावह ही है ।" यदि ('सुदर्शन' को जोड़ना चाहिए) ऐसी घटना गौण रूप से प्रधान कथा की सहायता करे और प्रधान कथा को बाजीगर बंदरिया की तरह नचाती और बिगाड़ती न फिरे, जैसा कि उसने 'चन्द्रकान्ता' में भरपेट किया है ।

2. नैयायिक धुरन्धरों की अपेक्षा उसकी बुद्धि चमत्कारिणी है । इसलिए कि सम्भव और सम्भवाभाव, और असम्भव और असम्भवाभाव को परस्परासमानिधिकरण मानता है । और, 'सुदर्शन' की तरह उन्हें परस्पर संकीर्ण नहीं कर देता । भाष्यकार ने भी लिखा है – "भवन भावः शब्दैरेव शब्दानाचष्टे" तो 'वेंकटेश्वर' का लक्षण बुरा क्यों है ?

3. उनके प्रतिष्ठित पत्र का सिद्धान्त – सम्पादक विशेष की रुचि से उद्देश्य विशेष का समर्थन होता है, साथ ही पाठकों में भी अधिकारीभेद होता है । पाठक उपन्यास शून्य होना नहीं चाहते, उनके लिए "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" करना पड़ता होगा । यहाँ हम 'वेंकटेश्वर' का पक्ष नहीं ले रहे हैं, केवल वक्तव्य कह रहे हैं ।

4. असम्भव का लक्षण बनाकर समन्वय करना – "लक्ष्यतावच्छेदकासामानाधिकरण्यं, सम्भवाभावो वा असम्भवः ।" इस लक्षण का 'सुदर्शन' ने खण्डन कम किया है । "उछाय ह्रासवृद्धिसमर्थत्व" भी लक्ष्य से समानाधिकरण नहीं है ।

5. पुस्तक प्रकाश कामना से सत्य का मुकुट, गोरी चमड़ी वाले जो लिखें सो सम्भव है, अच्छा इसलिए कहा कि 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हुआ था, यह तीनों उक्तियाँ उत्तर के योग्य ही नहीं ।

'राजपूत को नेक सलाह' लेख के वीर लेखक का हम इसलिए उत्तर नहीं देते कि उसने अपने नाम को छिपाकर धर्मग्रन्थों तक पर आक्षेप किया है तथापि पृष्ठ 38 के उसके कथन पर हमें एक वाक्य कहना है – "अंग्रेज समाज का यथावत् चित्र उतारने वाला रिनाल्ड के समान धुरन्धर उपन्यास लेखक कोई न हुआ, न है ।" "जैसा कि 'कलावती' और 'चपला' में हिन्दू समाज का यथावत् चित्र उतारने वाला पं. किशोरीलाल गोस्वामी या देवकीनन्दन के समान धुरंधर उपन्यास लेखक कोई न हुआ, न है ।"

आषाढ़ का 'सुदर्शन' देखकर सुदर्शन का पक्ष करने की इच्छा होती है । वास्तव में बहुत बकवाद करने के लिए सन्नद्ध पत्रों पर अग्नि पर भीगे कम्बल की जरूरत है । प्रेरित पत्रों के लिए बिचारे सम्पादक दायी बने हैं । और, साहित्यसेवी के लेख का खंडन उसने अच्छा किया है । यद्यपि उस लेख में प्राचीन आर्य राजाओं के विरुद्ध बहुत कुछ अपावन अपाठ्य विषय है

और इसी से उस विषय पर बहुत कुछ कहना भी उचित नहीं, तथापि दो एक बातें कहे देते हैं–

1. पृष्ठ 27 आश्रयदातृ बंगभाषा, प्रभृति – यदि बंगभाषा ने हमें शब्द और ग्रन्थ दिए तो उनके दोष न देखना – यह कहाँ का न्याय है ? बुद्धिमान् बंगालियों ने यदि नवजात उपन्यासादि शब्दों पर विवाद न किया तो क्या हम भी रक्तबीज की तरह फैलते उपन्यासों पर कुछ न कहें ?

2. "प्रातःस्मरणीय महाराणाओं के उत्कर्ष के लिए बंगालियों ने जो कल्पना की है ।" यथा – अश्रुमती का सलीम से प्रेम ! क्यों ? दुर्बल बंगाली अपनी जातीय दुर्बलता के सामने विशुद्ध रुधिरवीर राजपुत्रों का क्या उत्कर्ष करेंगे ?

3. जगन्नाथ जी की मूर्ति – किन्तु यदि कोई ब्रज में न जाकर जगन्नाथ जी की मूर्ति को ही देखकर विचार बाँधे तो हिन्दुओं को असभ्य जातियों के सदृश पूजक कहेगा न ! वही बात उन निपुणता की हानि वाले उपन्यासों की है ।

4. 'मेघनादवध' और नवीनचन्द्र के ग्रन्थों में त्रुटियाँ नहीं हैं। माइकल मधु ने तो इच्छापूर्वक मिल्टन के अनुकरण से, रावण से सहानुभूति दिखाई है और देवरामचरित्र को मनुष्यरामचरित्र में परिणत किया है । प्रभास रैवतक आदि में आर्य-अनार्यों का कल्पित झगड़ा बनाकर ब्राह्मणों को अनार्य पक्षपाती दिखाया गया है । इस ग्रन्थ पर 'ऊनविंश शताब्दीर महाभारत' देखिए ।

5. 'उसी शैली का' जिससे अश्रुमती के द्वारा महाराणाओं की प्रशंसा की गई है ।

6. 'स्वतन्त्रचेता आर्य्यकवि' 'भारतवर्षीय कवि किसी के दास नहीं होते' ठीक है ! और, उनकी स्वतन्त्रता कुछ रुपया न मिलने से अपने मित्र के जानी दुश्मन बन जाने में या एक-एक रुपये में स्वार्थान्धप्रकाशिका पर सम्मति करने में शेष होती है । इस स्वतन्त्रता का उपयोग क्षत्रियों पर ही होना चाहिए ।

7. "मलेच्छों के अपवित्र उत्संग में दुहिता अर्पण की" धीरे-धीरे । यह बात असत्य हो, यह असम्भव नहीं है ।

8. 'नागरी प्रचारिणी सभा' के वार्षिकोत्सव पर ऐसी पुस्तकों पर विचार हो जाय – नहीं ! कदापि नहीं ! ! जिन लोगों को लड़ने का स्वभाव है, वह किसी का फैसला क्यों मानेंगे ? फिर जिस पक्ष की जीत होगी उसे motives लगाने में प्रवीण लोग स्वार्थी और अन्यायी न कहेंगे ? और दूसरा पक्ष 'नागरीप्रचारिणी सभा' का शत्रु न बन जायगा ? पं. मिश्र ने महामण्डल की वर्षों की लड़ाई मिटाकर तो क्या कर लिया और इस लड़ाई को दिनों के विचार में मिटाने की उनकी लालसा है ! सभा की सौम्य कार्यवाही में यह पचड़ा डाला ही न जाय । हिन्दी-पत्रों की भेड़ियाधसान स्वयं ही चुप हो जाएगी, नहीं तो सभा में भी क्या होगा –

उच्चैरुद्घोष्य जेतव्यमधस्थश्चेदपण्डितः ।
पण्डितो यदि तत्रैव पक्षपातो निवेश्यताम् ॥

9. जो लोग न्यायालय में राजपूतों को ले जाकर कलह का सूत्रपात कराया चाहते हैं, वे कदापि उनके या हिन्दी भाषा के हितैषी नहीं हैं । अवश्य ।

10. सवाया मान – क्या उसी कारण हुआ है ? कारणान्तर नहीं ? धन्यवाद के लेख में यह पढ़कर बड़ा हर्ष हुआ कि सुदर्शन-सम्पादक की चले तो 'चन्द्रकान्ता' के बदले तुलसी-रामायण पढ़वावे। भगवान् करे उनकी चले। किन्तु उनके मत में धर्म और नीति और वस्तु है, और काव्य-साहित्य और। हम यह नहीं मानेंगे। यदि निर्जीव आख्यायिकाएँ असम्भव और अद्भुत घटना मात्र का उल्लेख न करके मनुष्य जाति के उपादेय या गर्हणीय चरित्र का अंकन करके विलास में भी उपदेश दें तो क्या हानि है ? यदि नीति और काव्य – क्षुरस्य धारा और विलास के बीच में पुल बँध जाय तो क्या हानि है ? मनुष्य जाति के लिए मनुष्य जाति चर्चा से अच्छा विश्वविद्यालय नहीं। मनुष्य कड़वी दवाई (धर्मशास्त्र) रजामन्दी से नहीं पीयेंगे, उन्हें आख्यायिका की शक्कर में लपेटकर तत्व दिये जाएँ। सहयोगी क्षमा करें "गणेशं कुर्वाणो वानरं चकार" तो तिलिस्म की बिलल्ली घटना के 'निर्जीव' शृंगारकों ने किया है, मनुष्य जाति की सम्भव घटनाओं की आख्यायिकाएँ उतनी ही सजीव हैं जितनी मनुष्य जाति और मनुष्य जाति का इतिहास। 'चलता पुर्जा' और 'विज्ञान और बाजीगरी' विलास होने पर भी ज्ञान है, सच्ची और होनेवाली बातों की जानकारी है। क्या यही शब्द 'चन्द्रकान्वा' के विषय में कहे जा सकते हैं ? उससे समय वृथा नष्ट होने के साथ जानकारी क्या हुई ? हाँ, हमने कई मनुष्य ऐसे देखे हैं जो 'चन्द्रकान्ता' के दो तीन परायण किये बाद तेजसिंह बन जाते हैं, पागलों की तरह पहेलियों में बातें करते हैं, पत्ता हिलता देख काँप उठते हैं, किसी गली का मोड़ देख चौंक उठते हैं, प्रत्येक वृक्ष को तिलिस्म और प्रत्येक खण्डहर को कैदखाना मानकर मित्रों के साथ बाग जाने में भी हिचकते हैं। सहयोगी हँसे नहीं, यह भयानक सत्य है। घर-घर में Den quixote की घटना की आवृत्ति हो रही है।

हमें भय है कि हमारा सहयोगी इतनी अधिक बातों से अप्रसन्न न हो जाय, इससे हम उसे सांजलिबन्ध क्षमा माँगते हैं और हमारा वक्तव्य यही है कि हमने अपने हृदय के शुद्ध भाव, भले मन से, भलाई के लिए, उसके सामने रक्खे हैं। कई लोग हमें यह कहेंगे कि 'सुदर्शन' आपसे अप्रसन्न हो गए – "समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते" (7, 8, 6, 3 ऋक्), परन्तु हम इसी में संतुष्ट हैं कि 'सुदर्शन' की कृपा से हम –

'अतारिष्म तमसः पारमस्य।'

इस लेख में हमने 'सुदर्शन' के ही मतों का विवाद इसलिए किया है कि वे ही विवाद के योग्य हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि और पत्रों के विचार सब सत्य हैं, नहीं-नहीं, कहीं-कहीं तो वे इतने उद्देश्य भ्रष्ट हैं कि उन पर कुछ कहना ही ठीक नहीं। 'सुदर्शन' के विरुद्ध कुछ कहने में हम अपना सौभाग्य समझते हैं। किन्तु असल बात जो है वह 'सुदर्शन' समझ ले। यह उपन्यास – उर्वशी हिन्दी पाठक पुरूरवा को सुधारने आई थी। जब देखा कि पुरूरवा हातिमताई के किस्से और बुलबुल हजार दास्तां ही में उलझा हुआ है तो इन्द्र ने यह उर्वशी इसको दी। उर्वशी ने अपना काम कर दिया है और अब जब राजा ने राजकार्य छोड़ा है तो उर्वशी आती है। तिलिस्म का स्थान तो विज्ञान चर्चा ले लेगी और ऐयारी का स्थान गवेषणा। अपने पुत्र आयु को पिता के पास छोड़कर अब उर्वशी चली। पुरूरवा भले कितना ही कहे –

"हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे ! वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु"[1]; "निवर्तस्व हृदयं तप्यते मे"[2] तो भी यह तो यही कहती जायगी कि "प्राक्रमिषसामग्रियेव"[3]; "दुरापना वात इवाहमस्मि।"[4] यहाँ तक कि वियोग में पुरूरवा यह कह बैठेगा – "सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ। अधा शयीत निऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥"[5]

तो उर्वशी यही कहेगी

"पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि संति सालावृकाणां हृदयान्येता।"[6], [7]

यही अनादिसंगर का अविनाशी नियम है। अन्धकार मिटाने को उषा आई, सूर्य के आते ही वह चली गई। उसका काम हो चुका। ओम्।

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अक्तूबर-नवम्बर, 1903 ई.)

---

1. हे प्रिये ! जरा ठहरो, मिलकर बातें करें।
2. लौट आ, मेरा जी जलता है।
3. पहली उषा की तरह मैं हट गई।
4. आज मैं सदा के लिए रवाना होता हूँ और सुदूर से न लौटने को (मरने को) तैयार हूँ। प्रकाशमान् मैं मृत्यु की गोद में सोऊँगा और भले ही भयंकर भेड़िये मुझे खा जाएँ।
5. मैं वायु की तरह पकड़ी नहीं जा सकती।
6. पुरूरवा ! मत करो, मत नष्ट हो, अमंगल भेड़िये भी तुझे न खाएँ। स्त्रियों से कभी सदा की मित्रता नहीं होती, इनके हृदय तो जरख़ के हृदय से कठोर होते हैं।
7. ऋग्वेद मण्डल 10, सूक्त 95, ऐल सम्वाद।

11

संगीत

मुझे इतना समय नहीं रह गया है कि आपके सामने ऐसी कहावतें रक्खूँ कि रोना और गाना सबको आता है; न मेरी यही रुचि है कि संगीत न जानने वाले को द्विपद मृग और पुच्छविषाणहीन पशु बताने वाले श्लोक यहाँ पर उद्धृत करूं और इसके लिए भी समय अनुकूल नहीं है कि ऐसे वाक्यों के प्रमाण दूँ कि जिनमें कहा गया है कि शिशु, पशु और सर्प ही गीत का रस जानते हैं या साक्षात् शंकर ही जानते हैं और विष्णु ने कहा है कि मैं, न तो बैकुण्ठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदयों में, परन्तु मेरे भक्त जहाँ गाते हैं वहीं मैं रहता हूँ। मेरा प्रयोजन आज यह कहने से भी नहीं है कि ब्रह्मा के सामगान और विष्णु के वंशीवादन और शंकर के ताण्डवनृत्य को और सरस्वती की वीणा को सामने धरकर गीत, वाद्य, नाट्य का दैव रूप आपको दिखाऊँ। मुझे केवल दो बातें कहनी हैं –

एक तो यह कि भारतवर्ष की वर्तमान उन्नति में जिस समाज या जिस प्रांत ने आगे पैर बढ़ाया है उसने संगीत का सहारा लिया है, अथवा गणित वालों के शब्दों में, जिस अनुपात में जो समाज वा प्रांत गानविद्या से विमुख है अथवा नहीं है उसी अनुपात से वह समाज समृद्धि के मार्ग में पीछे पड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ है।

इस पर थोड़े ही से विचार की आवश्यकता है। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और प्रार्थना-समाजों ने संगीत और वाद्य की अपने विचारों के प्रचार में बहुत सहायता ली है। नई सनातन धर्म सभाओं ने भी भजन-मण्डलियों और नगर-कीर्तनों से अपने को रहित नहीं रखा है। बंग देश की सभ्य ब्राह्मी महिलाएँ, बम्बई प्रांत की परभू जाति की कुलवतियाँ, मद्रास की उच्च ब्राह्मणी से लेकर नैयर जाति तक की ललनाएँ अपने-अपने प्रांतों की उन्नति लक्ष्मी की मूर्तियाँ बनकर संगीत और वाद्य का प्रेम दिखाती हैं। जैसा इधर के प्रांतों में संगीत को नीच जातियों का विषय मानने का पुराग्रह है जैसी ही स्त्रियों की उन्नति को रोकने की कुप्रथा है वैसे ही यहाँ पर उन्नतिदेवी का आना दूर है। पंजाब में भी कुछ जागृति दिखाई देती है तो उसके साथ-ही-साथ विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के गन्धर्व महाविद्यालय की चर्चा सुनाई पड़ती है।

मालूम होता है कि जैसे कृस्तान धर्म के पुराणकर्ताओं ने सब लोकों के घूमने से एक प्रकार का अनाहत नाद होना माना है जो परमेश्वर के सिंहासन के चारों ओर विजय-संगीत का स्वर सुनाता है, वैसा ही देशों की, मनुष्यों की और हृदयों की उन्नति में संगीत का एक तानलय प्रभाव है जो उन्नति की विजयपताका को उड़ाता हुआ चलता है।

हिन्दू शास्त्रकारों को कहीं पर संगीत, वाद्य आदि को गर्हित ठहराने वाला कहा जाता है

परन्तु सब वाक्यों की मीमांसा करने पर सारांश यही निकलता है कि असत् गीत-वाधादिक की निन्दा से ही वहाँ तात्पर्य है, विनोद और उच्च आनन्दमय आह्लाद-प्रधान संगीत की निन्दा से नहीं। नहीं तो पतंजलि यह काहे को कहते कि "ये वीणायां गायन्ति ते धन सनयः" और काहे को पवित्र यज्ञों में वीणागाथियों के गान और सम्मान की बातें जगह-जगह सुनाई पड़तीं ?

मेरे वक्तव्य का दूसरा अंश यह है कि हिन्दू और विशेषतः उच्च आर्य जातियों के प्रतिनिधि यदि संगीत की निन्दा और अपमान करते हैं तो वे उस मार्ग से दूर जा रहे हैं जिस पर उनके "पूर्वे पितरः" चले थे, यही नहीं वे पितरों के कर्मों के विरुद्ध चल रहे हैं क्योंकि वे गवैयों के बेटे-पोते हैं – उनके बहुत पुराने पुरुषा गवैये थे।

आप आश्चर्य करेंगे। मैं फिर कहता हूँ कि आपके बाप-दादा गवैये थे। संक्षेप से इस बात को विचारिये। सब वर्णों की उत्पत्ति आठ गोत्रकार ऋषियों से ही है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी उन्हीं गोत्रकार ऋषियों की सन्तान हैं। शूद्रों को जरा देर के लिए छोड़ दीजिए, क्योंकि वे गान की और गवैयों की निन्दा नहीं करते। क्षत्रिय और वैश्य कुलों के वे ही ऋषि हैं जो ब्राह्मण कुलों के। और ब्राह्मण कुलों के ऋषि न केवल वेदों के द्रष्टा थे, वे वेद-मन्त्रों के ऋक्, यजु, साम नामक त्रिधा भिन्न स्तुति, कर्म और गान रूप प्रथा के चलाने वाले थे। जहाँ पर वैदिक कर्म में "ऋग्भिः शंसति" और "यजुर्भिर्जुहोति" है वहीं पर "सामभिर्गायति" भी है। कौन ब्राह्मण का बच्चा कह सकता है कि मैं इन गवैये ऋषियों की सन्तान नहीं हूँ ? कौन ब्राह्मण का बच्चा यह कहने का साहस कर सकता है कि ये ऋषि सामगान नहीं करते थे ? और संगीत से नाक चढ़ाकर कौन-सा ब्राह्मण इन सात्विक गवैयों का अपमान नहीं कर रहा है ? तुम्बुरू का तम्बूरा ब्राह्मणों के वाद्य के सम्बन्ध का और राजर्षि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र क्षत्रियों के वाद्य, नृत्य के साथ निकट सम्बन्ध का सदा साक्षी रहेगा।

क्षत्रियों और वैश्यों के गोत्रकर्ता ऋषि वे ही हैं जो ब्राह्मणों के हैं। इस बात को छोड़ दीजिए। आजकल की क्षत्रिय जातियों के वंशधर अपने आप को प्रधानतः दो कुलों का बतलाते हैं – सूर्यवंश का और चन्द्रवंश का। सूर्यवंश की प्रत्येक वंशावलियाँ भी देवकी-पुत्र कृष्ण तक पहुँचाई जाती हैं। इन्हीं दोनों कुलों की बात सुन लीजिए।

चन्द्रवंश की वंश-परम्पराओं के आदिकमल वासुदेव कृष्ण को जो अपना पूर्वज मानते हैं वे किस मुँह से गाने-बजाने की निन्दा करते हैं ? कृष्णचन्द्र ने न केवल स्वयं गीतागीत गाया प्रत्युत उसके कारण गाए हुए पंचगीत आज भी संस्कृत साहित्य के प्रियतम रत्नों में से हैं। और उनकी वंशी बजाने की महिमा का तो क़हना ही क्या ? मनुष्यों और देवताओं पर ही उसका व्यामोहन नहीं चलता था, पशु, पक्षी, तरु, लता, नदी, पर्वत – सब उस धुन से मस्त थे। यहाँ पर पंचगान के दो-तीन पद जरा ध्यान से सुन लीजिए, मैं मूल संस्कृति नहीं कहता, मथुरा के मारवाड़ी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के मधुर अनुवाद में से सुनाता हूँ –

गौ कृष्ण के मुख कढ्यो वह वेनु-गान –
पीयूष-पान करतीं जु उठाय कान।
त्यों वत्स हू पय भरे स्तन-ग्रास छाँडे,

ठाड़े रहैं सु प्रभु को हिय राखि गाढे ॥
वंशी ध्वनि सुनि नदी गति होत भग्ना,
आवर्त सूचित-मनोभव में निमग्ना ।
लै के तरंग भुज सों कमलोपहारू,
गाढ़े गहै सु हरि के पद-पद्म-चारू ॥
गौ-गोप-साथ रसरी धरि के सु कांधै,
वंशी बजात जब ही सुर सप्त साधै ॥
रोमांग वृक्ष रू रहें चल जीव ठाड़े,
हा ! चित्र ! ! चेतन अचेत भाव छाड़ ॥
दूर तक हि मृग-गौ-गन सारे,
वेणु-नाद-हत-चित्त विचारे ।
दाँत-ग्रास-धरि कान लगावें,
नैन मूंदि सभ-चित्र लखावें ॥
चतुर-गोप शिशु खेलन मांही,
वेणु-वाद-नव-रीति महाही ।
जब अरी यसुदा ! तब ताता,
ओष्ठ बिम्ब धरि वेणु बजाता ॥
तबहिं सो सुनि सबैं सुरवृन्दा,
ब्रह्म-इन्द्र-शिव-पाय अनंदा ।
नमित-ग्रीव चित-ध्यान लगावें,
राग-भेद नहिं जानि लजावें ॥
करत हासऽरू कटाक्ष विलासा,
हा ! तबै हम बंधे-स्मर-पासा ।
तरु-समान गति होय हमारी,
भूलि जाँहि कबरी अरू सारी ॥
पति सुतादि को छांड़ि कुल गली,
तव समीप हा ! आ गई छली !
सरस गीत सों मोहि जो गई,
तियन रैन में को तजै ? दई !

ऐसे बड़े उस्ताद के वंशधरों की क्या, जाति-भाइयों की भी क्या, एक देशवासियों तक की गाने-बजाने से प्रीति होनी चाहिए। हाँ, यदि कोई मेरा युवा मित्र यह कह उठे कि यह तो कवियों की कल्पना है, सच्ची बात थोड़ी है; तो मैं चुपके से उसके कान में कहूँगा कि संस्कृत की एक प्रसिद्ध कहावत के अनुसार एक ही मुर्गा का एक हिस्सा पकाने के और दूसरा हिस्सा अंडा देने के काम में नहीं आ सकता; मैं मानता हूँ कि यह कवियों की रचना है; परन्तु हमारी

वंशावली का कृष्ण से मिलना भी क्या कवियों की रचना नहीं है ?

अब मर्यादा पुरुषोत्तम राजा रामचन्द्र के दोनों पुत्रों की ओर आइए। उनके नाम कुश और लव थे। ये कुछ निराले से नाम हैं; पहले के और पीछे के राजाओं में बहुत ही कम (शायद नहीं भी) मिलते हैं। दोनों जोड़ले भाई थे, वाल्मीकि ने इनके सब संस्कार साथ ही किये थे, शब्द ब्रह्म का नया श्लोकमय विवर्त वाल्मीकीय रामायण इनके साथ-ही-साथ पढ़ा, उसे गा-गाकर लोकापवाद-भीरू-रामचन्द्रकी निकाली हुई सीता के वियोग-दु:ख को वे कुछ-कुछ कम करते थे और उनका लोकोत्तर गान सुनकर रामचन्द्र ने जब उनसे पूछा कि "गेये को नु विनेता वां ?" (तुम्हें गाना किसने सिखाया) तो उन्होंने वाल्मीकि का नाम लिया और पीछे राम ने उन्हें पहचान कर स्वीकार किया। बड़ी रोचक और करुण रस की कथा है। उन दोनों का नाम समास करके "कुशलवौ" ऐसा भी आता है और कई जगह "वाल्मीकीय रामायण" में "कुशीलवो" भी आता है, जैसे –

अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ।

(रामायण : उत्तरकांड)

कुश और लव का समास करने पर बीच में ई का घुसना नई बात होने पर भी संस्कृत-व्याकरण के जानने वालों के लिए नई नहीं है। क्योंकि वहाँ बालक का नाम तो हरिचन्द्र होता है; एक खास राजर्षि का नाम उन्हीं शब्दों से बनकर हरिश्चन्द्र होजाता है; दुनिया का दोस्त इस अर्थ में विश्व + मित्र बनता है और उसी में एक खास ऋषि का नाम होने से "आ" आ जाता है और वह शब्द विश्वामित्र हो जाता है। आजकल किसी पार करने वाले का नाम "पारकर" होगा; परन्तु एक ऋषि का उसी अर्थ का नाम पारस्कर है। व्याकरण को भाषा की उन्नति के आधीन मानने वाले कहेंगे, ये पुराने शब्द हैं व्याकरणों के बनने के पहले भाषा के चालू सिक्कों में आ चुके थे; और पीछे वैयाकरणों ने अपनी बुद्धि के अनुसार जिन शब्दों को न बना पाया उन्हें निपातन करके अलग छाँट दिया। ठीक है; मेरा उनसे कोई झगड़ा नहीं है। वे ये मानेंगे कि आजकल यदि दो जोड़ले भाई या सदा साथ रहनेवाले दो जनों के नाम कुश और लव हों तो उन्हें "कुशलवौ" कहा जाएगा; परन्तु उन दोनों भाइयों को 'कुशीलवौ" नहीं कहेंगे, वह केवल वाल्मीकि के शिष्य और मैथिली के कुमारों पर रूढ़ है।

अच्छा, जरा देखिए तो संस्कृत में कुशीलव का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ गाने-बजाने में कुशल, कीर्ति संचारक, नट वा चारण, गायक मिलता है। इन दोनों भाइयों के अर्थ में भी कुशीलव पद पाया जाता है + कुशीलवों की विद्या के चलाने वाले वाल्मीकि मुनि का भी यह शब्द वाचक है। और इन अर्थों के वाचक कुशीलव शब्द की व्युत्पत्ति कोशकार यह करते हैं कि "कुत्सितं शीलं अस्त्यर्थे व; कुशीलं वाति वा" कु = खोटा; शील = चरित्र, व = है, या जो खोटे चरित्र को लिए फिरते हैं। इस बचपन की व्युत्पत्ति को मैं बेसमझी का टक्कर मारना कहता हूँ। यह उसी पंजाबी कहावत का नमूना है कि –

उणादि का प्रत्यय आया डुलक, डियां डोलाना;
मा धातु से सिद्ध हुआ मुलक, मियां मौलाना ! !

"वाल्मीकिरामायण" के पहले किसी ग्रन्थ में गवैयों के अर्थ में कुशीलव शब्द नहीं मिलता। अतएव मेरा सिद्धांत यह है कि ये दोनों भाई कुशीलव इतने बढ़िया गवैये थे कि उनके पीछे गवैयों भर का नाम कुशीलव हो गया।

भाषा-विज्ञान के खोजी जानते हैं कि विशेष संज्ञा-नामों से साधारण गुण नाम बन जाते हैं। एक "कादम्बरी" उपन्यास के पीछे मराठी भाषा में उपन्यास मात्र का साधारण नाम कादम्बरी हो गया है। एक भगीरथ के हिमालय पर्वत से समुद्र तक गंगा नदी को लाने के परिश्रम को देखकर बड़े हिम्मत के कामों में "भगीरथ प्रयत्न" कहने लग गए हैं। हिन्दी में एक प्रसिद्ध अंधा सूरदास नामक हो गया है जिसके पीछे अंधे अंधे सभी सूरदास जी कहलाते हैं। एक जसवन्तराव होलकर काने के पीछे सभी काने जसवन्तराव हो गए हैं। "नव्वाबी", "सिखाशाही" आदि शब्द भी एक विशेष प्रकार की शासन-प्रणाली के वाचक होकर वैसे गुणों वाली सभी प्रणालियों के लिए लाए जाते हैं। आजकल भी एक पायोनियर अखबार की प्रसिद्धि से आप लोगों ने पायनियर को अखबार मात्र का सर्वनाम बना लिया है, जैसे "आपके हाथ में कौन-सा पायनियर है ?" ढोला नाम का एक ऐसा प्रेमिक हो गया है जिसे अपनी प्रेयसी के वियोग से क्षण-भर का इष्ट न था; इसलिए अब राजपूताना में प्रेमी मात्र को "ढोला" कहने लग गए हैं और चकवा-चकवी की तरह साथ रहने वाले प्रेमियों को ढोला-मारू। पीछे वैयाकरणों ने इस प्रेममय शब्द को प्राकृत 'दुल्लहो" और संस्कृत "दुर्लभ" और हिन्दी "दूलह" से मिलाकर अपना काम किया है। इसमें संदेह नहीं कि "ढोला राय" को "दुर्लभराय" का विकृत रूप मानना पड़ेगा, परन्तु अत्यासक्त प्रेमी का अर्थ न दुर्लभ में है न दूलह में; ढोला में जो वह आया है वह उस विशेष व्यक्ति के गुणों का जाति मात्र में आरोप होने से हुआ।

ऐसे उदाहरण पचासों दिए जा सकते हैं। भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने यह उदाहरण दिया है। किसी वस्तु का नाम "हरा" था और उसका यह डित्थ कपित्थ की तरह अनर्थक नाम था। उसमें हरा (हरित) गुण भी था। अब लोगों को जो चीज हरित दिखाई पड़ती उसे वे सादृश्य के कारण "हरा ! हरा ! !" चिल्लाने लगे। होते-होते हरित गुण की वस्तु मात्र का साधारण नाम हरा हो गया जो एक विशेष अनर्थक नाम से निकल कर गुणवाचक हो गया।

यही "कुशीलव" के साथ हुआ होगा। अयोध्यावासियों के इतिहास में अपने राजा की खोई हुई रानी और पुत्रों का मिलना बड़ा भारी हलचल पैदा करने वाली घटना हुई होगी। राम ने "लोक एवं जानाति किमपि" कहकर सारा पुण्य-पाप का भार प्रजा पर रख दिया था। राम के छोटे भाई अपने अग्रज की निःसंतानता पर दुःखी थे जैसे भवभूति ने चन्द्रकेतु और सुमंत के मुँह से कहाया है।[1] प्रजा भी अपने भविष्यशून्य सिंहासन को देखकर दुःखी थी। इसी

1. अप्रतिष्ठे रघुज्येष्टे का प्रतिष्ठा कुलस्य नः।
इति दुःखेन पीड्यन्ते त्रयो नः पितरोऽपरे।
मनोरथस्य यद्बीजं तद्दैवेनादितो हतम्।
लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः।

अवसर में नाटक के समान घटना से दो गाने वाले जोड़ले भाई, जो "कुशीलव" कहलाते थे, रंगमंच पर आते हैं और रामचन्द्र और अयोध्यावासी उन्हें अपना मान लेते हैं। इस समय कुशीलव का और कोई अर्थ नहीं है, यह उन दोनों भाइयों का जुड़ा हुआ नाम है। अब हाट-बाट में घर-घर में कुशीलवों की चर्चा फैल गई – "देखो, ये कुशीलव कितना अच्छा गाते हैं कि सुनते-सुनते हमारे राजा को अश्रु आ गए! क्यों भई, पहले भी कभी ऐसे कुशीलव सुने गए थे? अपनी अयोध्या में ऐसे कितने कुशीलव हैं? जी, अयोध्या की गिनती का क्या, आर्यावर्त में इन जैसे कुशीलव नहीं हैं।" वाल्मीकि को आता देखकर लोग अँगुली उठा-उठाकर कहने लगते "हां, देखो यह कुशीलवों का गुरु आया! क्या यह और भी कुशीलव तैयार कर रहा है? शायद नायिकाओं ने अपने विदग्ध नायकों से कहा हो कि, "हमें रिझाना हो तो कुशीलव बनकर आओ"। और किसी पिता ने जब देखा हो कि बेटा दुकान को न सम्हाल कर दिन भर "ताना रीरी" में लगा रहता है तो उसने उसे सिर धुनता हुआ देखकर झिड़क कर कहा हो – "कुशीलवों की दुम बन जाता है! तेरे जैसे जब कुशीलव हो जाएँगे तब अयोध्या भर में किसी को नींद नहीं लेने देंगे।"

यों होते-होते यदृच्छा शब्द कुशीलव का अर्थ गवैया बजवैया मात्र हो गया। जैसे बुड्ढे वसिष्ठ के कारण हर एक आदरणीय वृद्ध को "वसिष्ठ" कहते हैं (खालक बारी का बसीठ = पैगम्बर) वैसे ही सुचतुर गवैयों के कारण सभी गाने-बजाने वाले कुशीलव कहलाने लगे। पीछे कई सौ वर्षों बाद जब इस शब्द की असली उत्पत्ति को लोग भूल गए थे किसी अक्षरकीट पंडित ने अपने समय की गवैयों की घृणा को देखकर "कुत्सितं शीलं" वाली भानमती के कुनबे की-सी व्युत्पत्ति गढ़ दी। वंश दो तरह चलता है विद्या से और जन्म से, तो क्यों कुशीलवों के जन्म-वंशज अपने वंशकर्ताओं की विद्या से घृणा करते हैं?

यदि यह कहा जाय कि गवैयों का नाम कुशीलव रामचन्द्र के पुत्र लव और कुश से पुराना है तो प्रमाण न होने पर भी इसमें इष्टापत्ति है। तो यों हुआ होगा कि दो चतुर बालक कुशीलव (= गवैये) अयोध्या में आए और पहचान होने पर राजपुत्र मान लिए गए। उनका नाम किसी को नहीं मालूम था। "कुशीलवों को राजा ने अपना पुत्र पहचान लिया" – "अब कुशीलव हमारे राजा बनेंगे" – इस प्रकार की बातें अयोध्या में होते-होते लोग उन्हें "कुशीलव" ही कहने लग गए। जैसे बड़े पहलवान या पंडित का नाम कोई नहीं जानता या लेता वरन् उन्हें पहलवानजी या पण्डितजी कहता है वैसे ये दोनों भाई "कुशीलव" ही कहे गए। पीछे उसी नाम को फाड़कर उनके नाम लोगों ने कुश और लव रख लिए। क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि ये निराले-से नाम हैं और संस्कृत-साहित्य में शायद और कहीं पाए नहीं जाते। और

---

2. एक और विनोद की बात है; संस्कृत भाषा के व्याकरण के अनुसार गोत्र के सब व्यक्तियों का नाम गोत्रकार के नाम से चलता है। कुशिक के वंश के लोग कुशिकाः कहलाएँगे ("एष वः कुशिका वीरो" – ऐतरेय ब्राह्मण) और भारत के वंश के सब लोग भरताः एष वो राजा भरताः – कृष्ण यजु.)। इस प्रकार से चन्द्रवंशी दुष्यन्त के पुत्र शकुन्तला गर्भज भरतवंश के लोग भरताः कहलाएँगे और कुशीलवों के वंश के कुशीलवाः। और संस्कृत-साहित्य में "भरताः" और "कुशीलवाः" यह नाचने-गाने बजाने में चतुर लोगों का नाम है!!!

इनके निरालेपन ही को देखकर और कुशीलव से इनका निकलना न सोच कर कई सौ वर्षों पीछे (और उस समय गानविद्या और उसके प्रचारकों से गर्हा उत्पन्न हो गई हो) यह द्रविड़ प्राणायाम से बादरायण संबंध निकाला गया कि वाल्मीकि ने उनके गर्भक्लेशों को कुश और लव (= गोपुच्छ) से मिटाया था इससे उनके नाम कुश और लव रखे गए। जिस एक गर्भ में जोड़ले भाई हैं उसके क्लेश मिटाने के लिए न्यारे-न्यारे उपकरण कैसे लिए गए यह विचारणीय है वैसे यह अप्रमाण कथा भी विचारणीय है कि एक दिन लव को खोकर सीता व्याकुल हो रही थी तो मुनि ने कुश पर छींटा मारकर एक दूसरा बालक बना दिया ! इससे एक पुत्र वाली सीता के दो पुत्र हो गए ! ! और यह बात ही न्यारी है कि ज्येष्ठ कुश उस कथा में कनिष्ठ हो जाता है ! ! !

चाहे जो हो, चाहे उन दो राजकुमारों के पीछे गवैये कुशलीव कहलाए हों और चाहे गवैया होने के कारण वे दोनों कुशीलव कहलाए हों – इसमें संदेह नहीं कि वे शब्दब्रह्म के नये विवर्त आदिकाव्य रामायण के चतुर गाने वाले थे। उनके गानवेत्ता होने में कोई संदेह नहीं। यदि रामचन्द्र की ऐतिहासिकता में किसी को संदेह हो तो यह मानना ही पड़ेगा कि रामचरित आदिकवि की कल्पना है। यह बात भी हमारे काम की है कि क्योंकि पुराने – अति पुराने – समय के कवि की दृष्टि में ऐसे चक्रवर्ती राजा के पुत्र और भविष्य चक्रवर्तियों को गानवेत्ता कहने में कोई संकोच न जान पड़ा या लज्जा नहीं आई। उस समय के पाठक भी चक्रवर्ती के लड़कों को गाता हुआ देखकर "अब्रह्मण्यं, अब्रह्मण्यं" नहीं पुकारते होंगे।

यह माना कि आजकल संगीत नीच संग से कुरुचिकारक हो गया है, पर कुसंग से कौन चीज नहीं बिगड़ जाती ? और उत्तम विद्या को नीच से, स्वर्ण को अपवित्र जगह से, अमृत को विष से, स्त्रीरत्न को दुष्कुल से लेने के विषय में भी नीति का एक श्लोक है न ?

12

इंटरव्यू

संगीत की धुन

लाहौर के गांधर्व विद्यालय के अध्यक्ष और संस्थापक पण्डित विष्णु दिगम्बर पुलस्कर आजकल राजपूताने का दौरा अपने कुछ विद्यार्थियों के साथ कर रहे हैं। अजमेर में "समालोचक" का एक विशेष प्रतिनिधि उनसे मिला। उसने देखा कि पुलस्कर महाशय गौर वर्ण, गठीले शरीर के युवा महाराष्ट्र हैं। देह की बनावट और भाषण की मधुरता से पहले उनके बंगाली होने का सन्देह होता है। विष्णुराव स्वभाव से बड़े शांत, मिलनसार और परिश्रमी सज्जन दिखाई देते हैं।

नमस्कार प्रणाम के उत्तर में प्रतिनिधि ने पूछा – महाराष्ट्र, केरल, कर्नाटक, मईसोर प्रभृति में संगीत की मर्यादा है, प्रतिष्ठा है। वहाँ इसे मीरासियों की जायदाद समझकर इसकी घृणा नहीं होती। फिर क्यों आपने पंजाब में इस विद्या के प्रचार का उद्योग किया और इसमें आपको अधिक कठिनाई नहीं पड़ी?

मि. पुलस्कर : अवश्य पड़ी, परन्तु हमारे गुरुदेव साधु महात्मा का यही काम करने की आज्ञा हुई। वेदादि शास्त्र दक्षिण में पंजाब ही से गए थे, इसलिए उनकी यही आज्ञा थी – जिनमें संगीत की थियोरी और उसका योगाभ्यास से सम्बन्ध समझाया कि जड़ को सुधारो, फिर सब सुधर जाएँगे।

प्रतिनिधि : क्षमा कीजिए, पण्डित जी, आप तो बहुत साफ हिन्दी बोलते हैं? क्या संगीत आपके यहाँ वंश-परम्परा से चला आया है?

मि. पुलस्कर : हाँ, मैं पहले भी युक्तप्रांत में बहुत रहा हूँ, और अब व्याख्यान आदि के देने से हिन्दी ही बोलनी पड़ती है। महाराष्ट्र में कोई ही ब्राह्मण ऐसा होगा जिसको वंश-परम्परा से भजन-कीर्तन न आता हो या कुछ न कुछ संगीत न आता हो। हमारे पितामह गदर के दिनों में उत्तर भारत में ही थे और "आमचे बड़ील" हरिकीर्तन करते थे। मैंने दस वर्ष तक प्रैक्टिस किया, किन्तु वास्तव ज्ञान महात्मा गुरुदेव की कृपा से ही हुआ। उन्हीं की कृपा से मैंने कुछ...

प्रतिनिधि : हाँ, आपने क्या इस विद्या में नए आविष्कार भी किए हैं? और इसके नोटेशन का जो आपका नया क्रम है, वह आप ही का है?

मि. पुलस्कर : हाँ, वह मेरा अपना ही है। मैंने प्राचीन ऋषियों के ग्रन्थों पर ही चलकर सब कुछ जाना है। द्रुतगत अणुद्रत, पहले भी था, अणु अणु द्रुत, और अणु अणु द्रुत मेरी समझ है। ऐसे ही इन चिह्नों को देखिए। इनसे सरगम का नया ही रूप हो गया है और पढ़ने-पढ़ाने में बड़ी सुगमता हो गई है। देखिए, इस पुस्तक (संगीत बाल-बोधक) में तिस्र आदि नाम भी हमारे ही निकाले हैं। यह बात आप कहीं न पाइएगा।

प्रतिनिधि : क्या महाराजा शौरीन्द्रमोहन टागोर का क्रम आपने देखा है ? उसके विषय में आपका क्या मत है ?

मि. पुलस्कर : वह अंग्रेजी नोटेशन का अनुकरण और केवल बीस-पच्चीस रागों पर ही चलता है। उसमें यह बात नहीं कि साठ-साठ पेज एक ही राग का विस्तार चले। हमें इसके लिए नए टाइप भी बनवाना पड़े हैं।

प्रतिनिधि : तो अब पंजाब में आपका काम कैसे चल रहा है ?

मि. पुलस्कर : चार वर्ष में जो कुछ हुआ है उससे भविष्यत् की अच्छी आशा होती है। पहले लोग हमें कहा करते थे कि लड़कों को बिगाड़ते हो। धीरे-धीरे सभी सभ्य सज्जन आने और मानने लगे हैं। गुप्तदान भी बहुत कुछ आ जाता है। इतना व्यय किसी-न-किसी तरह चलता ही है। एक मकान के लिए जमीन भी मिल गई है। अपना प्रैस भी खोल लिया है जिसमें संगीतामृत-प्रवाह हिन्दी मासिक पत्र छपता है। हमारी वर्कशाप में हारमोनियम, तम्बूरी प्रभृति बनाए जाते हैं और उनकी बिक्री से अब सब खर्च निकालकर विद्यालय को 150/-, 200/- प्रतिवर्ष बच जाता है।

प्रतिनिधि : क्षमा कीजिए, हारमोनियम बनाने में आप विलायत से क्या-क्या मँगाते हैं और यहाँ कितना बनाते हैं ?

मि. पुलस्कर : प्राण विलायती होता है, शरीर यहाँ का बना होता है। प्राण यहाँ बनायें तो एक पर्दे में 2/-, 2/- लगते हैं; पूरा पटता नहीं। हाँ, इन तीन महीनों की छुट्टियों में हम या प्रोफेसर और विद्यार्थी घूमने को निकलते हैं। कोई यों देता है तो कोई यों, नहीं तो गा-बजाकर लेते हैं। हम लोग इसमें से कुछ भी रुपया नहीं लेते, चाहे जहाँ से पावें। हमने नार्मल या उपदेशक क्लास खोला है और संगीत-विशारद की उपाधि भी इस वर्ष से देना चाहते हैं। बस, पंजाब में लोग हमें जान गए हैं और काम भी चलता है।

प्रतिनिधि : मैंने सुना था – आप लोग आनरेरी काम काम करते हैं ?

मि. पुलस्कर : नहीं, हम लोग रईस या जागीरदार तो हैं ही नहीं। अन्न-वस्त्र तो वहीं से लेना पड़ता है। हमारा आनरेरीपना समझो तो यही है कि हम कहीं

नौकरी नहीं करेंगे। रजवाड़ों में हमें 300/-, 400/- मासिक मिल सकता है। कई प्रोफेसर भी 150/-, 200/- पा सकते हैं।

प्रतिनिधि : तो आपका मिशन क्या है ? और अभी तक पंजाब में आपको क्या करना है ? क्या आपका संगीत की युनिवर्सिटी खोलने का भी विचार है ?

मि. पुलस्कर : मिशन दो प्रकार के के होते हैं। मिसरी का मिशन और कड़वा मिशन। हमारा मिसरी का मिशन है। जो एक दफा जान जाएगा वह अवश्य हाथ बढ़ाएगा। जब वेश्या, म्लेच्छ आदि के साथ मिसरी कुपथ्य थी तभी लोगों ने उसे न छोड़ा, तो यह तो सुपथ्य है। लोग चाहें कुछ कहें पर उनके कान नहीं मानते, वे उन्हें खेंच ही लाते हैं। पंजाब में गाँव-गाँव में हमारे शिष्य हैं और वहाँ-वहाँ उनने हमारे क्रम में, हमारी पुस्तक से पढ़ना शुरू किया है। हमारे साथ ही जाकर परीक्षा लेते हैं। जालंधर, होशियारपुर में इस बात में सफलता हुई है। हमें बड़ी भारी.आवश्यकता एक बड़ा मकान बनाने की है। फिर परमेश्वर की कृपा और लोगों की सहायता से स्थान-स्थान में संगीत पाठशाला बनकर हमारे विद्यालय से सम्बद्ध हो जाएँ, इसमें क्या कठिनता है ? हमारा उद्देश्य यह है कि ब्राह्मण जाति इस विद्या से घृणा न करे जिससे उसमें इस सुकुमार और मनोहर विद्या का प्रचार हो और भारतवर्ष का पुराना गौरव लौट आवे। सम्भव है कि अभ्यास से "मल्लार' से मेघा आना और "दीपक" से दीपक का जलना प्रभृति –

प्रतिनिधि : क्या इनकी इस शक्ति में आपका विश्वास है ?

मि. पुलस्कर : भगवद्भजन में सब शक्ति है। उन शक्तियों के जानने से देश का दुःख दूर हो जाएगा।

प्रतिनिधि : पंजाबियों की संगीत की योग्यता के विषय में आपका क्या मत है ? क्या उनका मस्तिष्क और जातियों की अपेक्षा अधिक अनुकूल है ? सुना है – बंगालियों ने अन्तःपुर और बाहर संगीत का अच्छा प्रचार किया है।

मि. पलुस्कर : पंजाबियों में कई शताब्दियों से संगीत के संस्कार दूर हो गए हैं, तो भी परिश्रम से वे और जातियों से अच्छे हो सकते हैं। बंगदेश में मैं स्वयं कभी गया नहीं, परन्तु यह कह सकता हूँ कि हमें बंगालियों ने कभी जेब से सहायता नहीं दी है।

प्रतिनिधि : अच्छा, जाने दीजिए, परन्तु "भूखे पेट भजन नहिं होई" देश कंगाल है। इसमें शिल्प या राजनैतिक आन्दोलन को ही समय नहीं मिलता और न रुपया। ऐसे समय में विश्राम के कार्य संगीत को इतना ध्यान देना लोगों को रुचता है ?

मि. पुलस्कर : जो भक्त हैं, भावुक हैं, सहृदय हैं, वे आटे में नमक और रुपए में पैसा हमें ही देते हैं। जो नहीं हैं, वे या तो रुपया गाड़ छोड़ते हैं या दुर्व्यसनों में डालकर भी देश की दीनता की दुहाई दिया करते हैं। संगीत से प्रसन्न होकर भगवान् सब कुछ दे देंगे। कई दुर्व्यसनी बालक हमारे यहाँ रह कर उत्तर चरित्र के बन गए हैं। रही राजनीति, सो कभी आजमा देखिए। आपके व्याख्यान का अधिक प्रभाव होता है या हमारे तानारीरी के एक जातीय गीत का। "सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः।" यदि हमारे विद्यालय की पुस्तकों का एक-एक सैट भी प्रत्येक भद्र पुरुष ले ले तो कल हम स्वयं-भर (Self Supporting) हो जाएँ।

प्रतिनिधि : राजपूताना के दौरे में आप दरबारों से मिलकर यह प्रबन्ध क्यों नहीं करते कि उनके गुणीजन खाने या स्तुति पाठकों में आपके उत्तीर्ण परीक्षा-छात्र रहें जिससे निरर्थक और उत्पात की ग़ज़लों से तो देश बचे। मंदिरों में भी, "दिलदार यार प्यारे" की जगह आपके यहाँ के जातीय गीत और भजन गवाए जाएँ न?

मि. पुलस्कर : हाँ, यह बहुत अच्छा होगा। कृष्णगढ़ महाराज ने दो विद्यार्थी मेरे यहाँ भेजने का वचन दिया है। मीराज और मधोल राज्य में भी विद्यार्थी भेजे हैं। परन्तु राजपूताना के दरबार इतने दुर्भेद्य हैं कि उन तक मेरी गति ही नहीं होती। अब मैं उदयपुर जाऊँगा और ता.16 अक्तूबर को विद्यालय खुलेगा। तब तक जो हो जाए, सो हो जाए।

प्रतिनिधि : अब के काशी में राष्ट्रीय महासभा होने वाली है। क्या आप वहाँ जातीय गीतों में पुरुष और रमणियों से गान का प्रबन्ध नहीं करायेंगे?

मि. पुलस्कर : कांग्रेस के कार्यकर्ताओं से हम समय और स्थान माँगेंगे और यदि अनुकूल हुआ तो एक या अधिक प्रोफेसर और विद्यार्थी वहाँ भेजेंगे। रमणियों का तो – ।

प्रतिनिधि : क्यों? क्या देश की दुर्दशा में पुरुष लगे रहें और गृहलक्ष्मियाँ दक्षिणात्य और बंगदेश की रमणियों की तरह इस सरस्वती की वीणा को न उठावें?

मि. पुलस्कर : नहीं, "जालंधर कन्या महाविद्यालय" में हमारे ही क्रम से शिक्षा दी जाती है। मैं भी यही चाहता हूँ कि गृहलक्ष्मियाँ इस सुकुमार शिल्प को ले लें। बंगदेश में तो मैं भी कभी गया नहीं, पर इधर अभी यह बात दूर है।

प्रतिनिधि : थियसोफी से आपका क्या सम्बन्ध है? उसके विषय में आपका क्या मत है?

मि. पुलस्कर : मुझे अपने काम से फुरसत नहीं मिलती। मैं यही चाहता हूँ कि इसी में 48 वा 72 घण्टे का अहोरात्र हो जाए। सब बातों में जो अपने अनुकूल

अंश हो वह मनुष्य ने ले लेना, और हमें किसी से कुछ वास्ता नहीं। न उनके महात्माओं से हमारा काम है।

प्रतिनिधि : पंजाब में हिन्दू-मुसलमान और हिन्दू-सिक्खों के झगड़े का क्या आपके विद्यालय पर कुछ प्रभाव पड़ा है ?

मि. पुलस्कर : नहीं, प्रायः 75 उच्चकुलों के मुसलमान हमारे यहां से पढ़ गए हैं। परन्तु वे पूरा नहीं सीखते। कुछ कम ही सीखकर चल देते हैं। इसका कारण यह है कि हम गज़लें तो सिखाते नहीं और "गाइए गणपति जगवंदन" घर जाकर बोलने में उन्हें शर्म आती है। परन्तु मैंने कहा न, कान हमारे यहां बिना आए नहीं मानते। सिक्ख भी हमारे यहां पढ़ते हैं परन्तु उनका और हिन्दुओं का झगड़ा मिटने वाला नहीं है क्योंकि उसमें राजनैतिक अभिसंधि है। हां, आजकल बंगाल में जो स्वदेशी आन्दोलन चला है शायद इससे कुछ वर्षों में यह मिट जाय।

प्रतिनिधि : स्वदेशी आन्दोलन ! आपका काम भी स्वदेशी है !

मि. पलुस्कर : हां, हारमोनियम को लोग सबसे सरल और उपयोगी समझते हैं। परन्तु तुम्बरू ठीक है। अजी, हम तो शहनाई प्रभृति को मिला-जुलाकर खासा बैण्ड बना दें, पर करें क्या ?

प्रतिनिधि : क्या आपको आशा है, पंजाब में हिंदी चल जायगी ?

मि. पुलस्कर : सरकार कचहरियों में न करें तो दूसरी बात है। नहीं तो साधारण व्यवहार में एक दिन उर्दू को हिंदी निकाल देगी। हमारी हिन्दी पुस्तकों का द्वितीय संस्करण होता आया परन्तु उर्दू बिकती नहीं।

प्रतिनिधि : अच्छा, कोई नया जातीय गीत तो लिखाइए – "सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" तो मैंने सुना है।

मि. पुलस्कर : वह नहीं, यह नया लीजिए। इसका नोटेशन संगीतामृत-प्रवाह की नवम संख्या में छपा है –

राग खम्माज

भारत हमारा देश है हित उसका निश्चय चाहेंगे।
और उसके हित के वासते, हम कुछ न कुछ कर जाएँगे।
भारत की दुःखप्रद अवनति पर, क्यों न अश्रु बहाएँगे।
और उसके मिटाने के लिए हम कुछ-न-कुछ कर जाएँगे॥
भारत हमारी मातृभूमि उसका ऋण हम पर बहुत।
उसके शोधन के लिए हम कुछ न कुछ कर जाएँगे।
धन-विद्या और धर्म से उन्नति भारत की हो।
इस उन्नति के मार्ग में हम कुछ न कुछ कर जाएँगे।

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर 1905)

13

खेल भी शिक्षा ही है

खेलना वह शक्ति है, जिसके दर्जों का भेद, मनुष्य का उच्च पशुओं से, और उच्च पशुओं का नीच पशुओं से जो भेद है उसका द्योतक है। जन्म के साथ बालकत्व और परवशता एक तरफ और एक तरफ बुद्धि आरम्भ होती है। जो जीव खेल सकते हैं, वे सिखाए भी जा सकते हैं। बुद्धि की वृद्धि के साथ-साथ माता-पिता के अधिक अधीन रहना पड़ता है अर्थात् अधिक बुद्धिमान जीव अधिक दिन परवश रहता है। परवश रहना ही खेलने का काल है। अर्थात् अधिक खेलनेवाले जीव ही अधिक बुद्धिमान् होते हैं, क्योंकि खेलना उन शक्तियों की कवायद और परीक्षा है जिनके ऊपर, आगे जाकर जीवन निर्भर होगा।

दृष्टांतों से समझिए। मेंढक जन्मते ही अपनी रक्षा करने को समर्थ होता है, जनक उसकी संभाल नहीं करते इससे वह बिल्कुल नहीं खेलता। भोजन तलाश करना और समय पर स्त्री सहवास करना यही उसका कर्तव्य है। बस वह इन्हीं दो कर्मों की गठरी है। मेंढक की प्रत्येक छलांग पशुवृत्ति मात्र है, या तो भोजन पाने को या तो शत्रु से बचने को, खेलने को नहीं।

यही दशा मछलियों की है, यद्यपि बड़ी होने पर ये खेलती हैं अर्थात् बिना किसी काम के भी तैरा करती हैं। किंतु स्वभाव में मछलियाँ बहुत कम खेलती हैं। इससे वह कुछ भी शिक्षा नहीं पा सकतीं इसके सिवाय कि घंटी बजाने पर खाने को आ जाएँ। कई मछलियाँ किनारे पर आदमी देखकर खाना मिलने की आशा से तट पर भी आ जाती हैं, हाथ पर से राम-नाम की गोलियाँ भी चुन लेती हैं। एक सज्जन ने घंटी बजाकर मछलियों को उसकी आवाज पर भोजन के लिए एकत्र करने का अभ्यास डाला। फिर घंटी के लटकन में डोरी बाँध कर, उसमें कुछ बाँधकर उसे खेंचने से मछलियों को घंटी बजाना भी सिखाया। जब एक मछली घंटी बाजाती तो और भी आ जातीं, किंतु भूख लगने पर घंटी बजाकर इकट्ठा होना वे न सीख सकीं। याने वे "एक पद" संयोग की शक्ति रखती हैं, उनका मन दो पदों का संयोग नहीं कर सकता।

अब जरा पशुओं में नीचे भी चलना चाहिए क्योंकि कई लोगों की बुद्धि में चींटी और मधुमक्खी बहुत बुद्धिवाली होती हैं। किन्तु यद्यपि चींटियों में जाति-भेद हैं और कर्म-भेद हैं तथापि वे केवल अचेतन भारवाहक ही हैं, और जन्म से (न कि शिक्षा और ज्ञान से) उनकी प्रवृत्ति इस ओर होती है। एक चींटी दल निसर्ग से बच्चों को पालता है, दूसरा निसर्ग से अन्न ढो लाता है, तीसरा शत्रुओं से लड़ता है। यदि चींटियों को किसी काम में लगा पाकर उनका पहला हिस्सा काट डालें तो भी बाकी हिस्सा उस काम से न हटेगा अर्थात् न खेलने के कारण

उनमें अपने काम को जानने की बुद्धि नहीं है, सब काम जड़ता ही किए जाती है। बड़े-बड़े चिउटों से तो सर्जनों के ऐसे टाँके देने का काम लिया जाता है, अर्थात् चींटे के जबड़ों में दोनों ओर का मांस फंसाकर उनका पिछला भाग काट दिया जाय तो अग्रभाग वैसे ही चिपटा रहेगा। पहले मानते थे कि ये एक दूसरे से बातचीत कर सकती हैं, क्योंकि जहाँ मिठाई पर एक चींटी पहुँची तो वहीं पचासों मौजूद ! किंतु इसका कारण खाद्य पदार्थ की गँध है। चींटियां अपनी मित्र चींटियों को बहुत दिनों पीछे भी पहचान लेती हैं, और अपने निवास में आए शत्रुओं को फाड़ देती हैं, किंतु शत्रु का रूधिर मित्र के और मित्र-रूधिर शत्रु के देने से वे उलटा व्यापार दिखाती हैं। मनुष्य की दृष्टि में इनका काम और परिश्रम मूर्खता है, बुद्धिमत्ता नहीं; यही हाल मधुमक्खी का है। सैकड़ों वर्षों से इनको हम आदर्श मानते आए हैं, किंतु बालक "पशुवृत्ति" से ही अपने गुरुओं से अधिक जानते थे, इसी से उसने इनका अनुसरण नहीं किया।

पक्षियों में भी खेलने की प्रवृत्ति बहुत कम है। वे पक्षी जो वृक्षों पर और ऊँची जगहों पर गोल खोते बनाते हैं और जिनके बच्चे कमजोर होने से अधिक संभाल के प्रार्थी होते हैं अधिक शिक्षा पा सकते हैं और अधिक खेलते हैं। इसके विरुद्ध भूमि पर खोता बनाने व अंडा देने वाले पक्षी जिनमें जन्मते ही बच्चों की आँख खुल जाती है और जो झट दौड़ने और खाने लगते हैं, नहीं खेलते और शिक्षा नहीं पाते।

द्वितीय श्रेणी में मुर्गे गिने जाने चाहिए। इनके बच्चे जन्म से 20 मिनट बाद ही कीड़ों पर चोंच मारते हैं, ये कभी नहीं खेलते, केवल कीड़ों के लिए लड़ते हैं। झटपट उनका जीवन शुरू हो जाता है और इसी से "मुर्गी के बच्चे" यह मूर्ख के लिए गाली का शब्द है। मांसाहारियों के पंजे में कई शताब्दियों से पड़े रहने पर भी अब तक ये (मुर्गी, तीतर, पैरू, बत्तक) कुछ न सीख सके। पालतू मुर्गा प्रायः असम्भव सी बात है, किंतु जहाँ चाहो वहाँ पालतू भेड़, बछेड़े, बछरे, सूअर तक देख लो। कौवे अधिक बुद्धिमान हैं, उच्च स्थानों में खोते बनाने वाले पक्षियों की बुद्धिमत्ता उसी क्रम से अधिकाधिक है जिस क्रम से वे अधिक खेलते हैं या नाचते हैं। सबसे उच्च दशा में तोते और मैना हैं, जो खेला करते हैं, मजाक पसंद करते हैं और इसलिए सबसे अधिक बुद्धिमान हैं। हँसना बुद्धि का चिह्न भी है फल भी है।

पशुओं में आइए तो अधिक खिलाड़ी मिलेंगे। कंगारू में खेलने का उतना प्रेम नहीं है किंतु धीरे-धीरे पद पर आकर देखते, बकरी और बिल्ली के बच्चे अपनी खेलवाड़ के लिए कहावतों में प्रसिद्ध हैं। बिल्ली का बच्चा अपनी बहन की पूँछ पर, या डोर के गुच्छ पर वैसे ही झपटता है जैसे कि बड़ा होने पर चूहों पर, चिड़ियों पर व दूसरे बिलार पर झपटेगा। भेड़ के व गौ के बछड़े से खेल-कूद, सोचिए तो, कितनी प्यारी है ! दोनों अपनी टाँगों को सब ओर फटकारते हैं जिससे निश्चय हो जाय कि यह हमारी ही है। बछड़े का टकराना उस भविष्यत् बड़प्पन का सूचक है जब वह अपने शृंग के बल से गोविंद होकर "सुरमोरनुनिः सपत्नं" गमन करेगा। बछड़े का कूद कर ऊँचे टीले पर चढ़ जाना अपने पूर्वजों की वीरोचित प्रवृत्ति का नमूना है। जरा बंदरराज का भी ध्यान कीजिए, वे तो दिन-भर खेला ही करते हैं।

क्या हमको अपने (मनुष्य जाति के) बालकों का खेलना अच्छा नहीं मालूम देता ? उनमें

भी खेल आगामी जीवन की दशा बताती है और उन्हें जीवन के योग्य बनाती है। बालक अपने पूर्वजों की नकल करता है। प्रकृति की खेलने की पाठशाला में जो पढ़ाया जाता है रटाई की शिक्षा उसकी भी नकल है। खेलने में बालक को विश्राम मिलता है, भूख लगती है, तंदुरुस्ती होती है, यही नहीं, उसके मन और मस्तिष्क की भी रचना होती है। बालक भी 20वीं शताब्दी में नहीं जन्मता, और न महलों में जन्मता है, वह उस काल में जन्मता है, जब मनुष्य गुहावासी थे और प्रालेय और प्रलय से बचते फिरते थे। मनुष्य जाति ने जीवन को जैसे आरम्भ किया था, बालक का सुकुमार मन भी जीवन का वैसे आरम्भ कर, सभ्यता की उन्हीं दशाओं में होता हुआ, बड़ों का अनुकरण करता हुआ बढ़ता है। मनुष्य जाति में और मनुष्य बालक में उन्नति का क्रम पहचानने से यह संबंध प्रकाशित होता है – पकड़-धकड़, शिकार, शांति, खेती और व्यापार।

इस बीसवीं शताब्दी में जन्मे बालक को जो दिखाई देता है वही खाने का पदार्थ माना जाता है। कोले से लेकर खिलौने तक जो कुछ उन गुलाबी हथेलियों में आया, वही मुखारविंद में गया मानो वही खजाना है। देह के अंगों के अपने होने की परीक्षा भी मुँह में डालने से होती है। बिना वस्त्र के मनुष्यों को भी पहले मुख ही "अपना" होगा, पाकट तो थे ही नहीं। जहाँ रेंगकर चलना आया कि शिकार की सूझी, माता की कैंची हो, या पिताजी की अँगूठी, बच्चे के हाथ लगी कि मुखारविंद में! अब खिलौने, पक्षी, गुड़िया, सबको पकड़ने का ही ध्यान होता है और यों बालक "शिकार" की दशा में आ पहुँचा। साथ-ही-साथ उसे छिपना आ जाता है, तकिए के पीछे, खंभे के पीछे, माता ही के पीछे, और कुछ भी न हो तो अपनी आँखों के सामने हाथ ही करके अपने को छिपा मान कर आगन्तुक पर हँसते हुए झपटना और आँखमिचौनी प्रभृति खेलना आदिम शिकारी मनुष्यों की नकल है और वन्य पशुओं से डरकर उनकी तरह ही छिपना है। साथ ही दरवाजे के बाहर "हाबू" गली में जाओ तो "भूत" रात को "काला रीछ" अँधेरे में और कोई चौथे वीर, मनुष्य जाति के उस पुराकाल के स्मारक हैं।

शिकार के साथ ही साथ लड़ाई और शांति दोनों आरम्भ हो जाती हैं। लाल जी लाठियाँ लेकर बिल्ली को मारते फिरते हैं, तलवार बाँधते हैं, गुड्डियों की फौज बनाकर किले जीतते हैं। गलियों में लड़कों के दल बन जाते है। पार्टी पार्टी में बहस होती है। राजा की कचहरी होती है, चोर का इंसाफ होता है, साथ ही साथ में मिट्टी के घर बनाए जाते हैं, रसोई की जाती है, दुकान जमती है, लेन-देन होता है, घोड़ी पर सवार होकर ही फिरना होता है, खेती की जाती है, तोते पाले जाते हैं, कुत्ते बिल्ली, गिलहरियाँ तक पाली जाती हैं, उनसे प्रेम उत्पन्न होता है। इमारतें बनती हैं, गुड्डियों के ब्याह होते हैं। और मरी गुड्डियाँ जलाई जाती हैं। यही सब कर्म करके मनुष्य जाति ने वर्तमान सभ्यता पाई है। फिर व्यापार आरम्भ होता है, जैसे पैसों से जेब भरना, तुलसी के पत्रों को ही खेल में बेचना, कोई कुछ काम करने के कहे तो, "मुझे क्या देंगे?" पूछना, मिठाई मिले तो चुप रहना, नई टोपी मिले तो मदरसे जाना इत्यादि।

प्रकृति की पाठशाला में मनुष्य जाति ने जो 10000 वर्ष में किया है बालक खेलने की महिमा से 8-10 वर्ष में ही करके जंगली गुहावासी से खासा व्यापारी बन गया। यहां पर बालक

ने अपनी गूढ़ शक्तियों की कवायद मात्र की। किंतु इस बात पर लोग यह आपत्ति उठावेंगे कि यों धन कमाना, चालाकी, लड़ना, या शांति सीखे भी सही, किंतु मानसिक शिक्षा कहाँ हुई ? मानसिक शिक्षा की दृष्टि में तो खेल विश्राम ही है; मन एंजिन का फालतू धूम निकालने के लिए ढिपनी के समान ही है।

किंतु खेल का देह गठन में जितना काम है, मस्तिष्क-गठन में भी उतना काम है। मस्तिष्क साधारण मांसपिंड का विवर्त-सिद्ध उन्नत रूप मात्र है। देह की आवश्यकता के अनुसार स्नायु बनते व बढ़ते गए। मस्तिष्क देह का नौकर ही तो है। पहले पहल सृष्टि में जब एक पदार्थ को दूसरे से संबंध करना पड़ता है तो आकर्षण बल से उस तक जाना या उसको अपने पास लाना जरूरी था। कई पास-पास के वृक्ष सरक-सरक के मिलते हैं और पत्थर लुढ़क कर नीचे आ जाता है। इसी साधारण उपाय की उन्नति होते-होते कुछ जीवों को रेंगना आया और उसी के विवर्त से टाँगे बनीं जिनसे जीव दूसरे पदार्थ तक जा सकता है। इसी उन्नति के साथ-साथ ऊपर के मांस पिंड बढ़कर हाथ बन गए। फिर भिन्न प्रकार के पकड़ने (ज्ञान) के लिए नाक खुल गए और आँख ने तथा कान ने पकड़ने का नया उपाय पा लिया। यह सब आवश्यकतानुसार हुआ और साथ ही साथ त्वकसंवेदन और स्नायु जाल सारेप ले गया और तार घरों की तरह उन तारों का केंद्र एक मस्तिष्क तक चेतना पहुँचती है और वहाँ से मांस के बल्लों को आज्ञा मिल जाती है। यों इंद्रिय चेतनाओं का तंतुओं के द्वारा जाना जाकर काम करना और काम की अधिकाई से एक केंद्र वा तार महकमे के इंस्पेक्टर (मस्तिष्क) का बनाना छोटे-छोटे जीवों से मनुष्य तक किस प्रकार हुआ है और खेल ने इसमें कितनी सहायता दी है, इस बात को पाठक बहुत ध्यान देकर पढ़ें ! बड़ा आनंद आवेगा।

एक प्रकार की मच्छियों में मस्तिष्क नहीं होता, केवल सारे देह पर तंतुजाल ही बिछा हुआ होता है जिसके एक अंश को छूने से स्नायु पर दबाव पड़ने से मछली भाग जाती है या अपने काँटे बढ़ाकर शत्रु पर हमला कर देती है। वही तंतुजाल "जेली" मत्स्य के मुँह के चौतरफ कमरबंद की तरह बंध जाता है और "तारा मत्स्य" में गलेबंद की तरह मुँह के ऊपर लिपटा जाकर अपनी शाखाएँ सब अंगों में फैलाए रहता है।

कीड़ों में, सारे देह में व्याप्त ज्ञानतंतु की दोहरी गाँठ के साथ पीठ में जुड़ा हुआ वही गलेबंद मुँह के पास होता है। यद्यपि देह के प्रत्येक अंग में ज्ञानतंतु की दो-दो गाँठें होती हैं, तो भी मुँह के पास गाँठों को अधिक काम करना पड़ता है इसलिए उन्नति होते-होते, प्रयोग बाहुल्य से वह गलेबंद की-सी गाँठें बन जाती हैं। उनमें गँध-ग्रहण की शक्ति होती है और रूप भी कुछ-कुछ पहचाना जाता है। क्रे-मत्स्य में भी यही सिर पर गलेबंद और पीठ पर ज्ञानतंतुओं का तार होता है, किंतु यहां गलेबंद कुछ बढ़ जाता है। कीड़ों में तो उसे "नासिका-मस्तिष्क" कह सकते हैं, किंतु आँखों से निकल जाने से मस्तिष्क में तीन पोटलियां सी बन जाती हैं और इसे "नासा नेत्र" मस्तिष्क कह सकते हैं। उससे उच्च जीवों के मस्तिष्क में इतना ही विशेष है कि नेत्र पोटली मस्तिष्क में और भी प्रकट हो जाती है और उनके सिवाय ज्ञानतंतु कुछ और भी बढ़ जाता है।

यहां से मस्तिष्क का बढ़ना आरम्भ होता है। उस ज्ञानतंतु के छल्ले से मुँह तो बाहर निकल आता है और ज्ञानतंतुसंघ उलटकर मेरूदंड में घुस जाता है। मुँह के ऊपर ही मस्तिष्क है, उसकी पूँछ में, जो मेरूदंड में प्रविष्ट है, अब न्यारी-न्यारी गाँठे नहीं रहीं किंतु एक ही संबंध रेखा हो गई। मस्तिष्क के सामने ही "नासिका पोटली", बीच में "नेत्र पोटली" और बगल में "कर्ण पोटली" हुई और कटे हुए मस्तिष्क के बाकी अंश के दो – "गोलार्ध" बने रहे गए। इन जीवों से मनुष्य पर्यंत, इन गोलार्धों के बढ़ने का ही विशेष है, नहीं तो मस्तिष्क का क्रम वही रहता है। यह गोलार्ध नासिका पोटली से विशेषतः और औरों से गौणता से सहायता पाकर बढ़ते जाते हैं। ये छोटी मछलियों में नासिका पोटली के समान, सालमन मीन में उससे द्विगुण, मेंढक और छिपकली में तीनों पोटलियों से बड़े चिड़ियाओं में मस्तिष्क से आधे, कुत्तों में प्रथम पोटलीत्रय से तिगुने, और मनुष्य में प्रायः अठगुने हो जाते हैं। खाना अच्छा है या नहीं, यह निश्चय करने के लिए मुख के ऊपर ही नासा मस्तिष्क उत्पन्न हो जाता है और देह के उसी भाग को अधिक खतरे रहने के कारण वही नेत्र मस्तिष्क हो गया। अब देह समाज की इस राजधानी में दो प्रतिनिधि आ गए और सब अंगों के ज्ञानतंतुओं के प्रतिनिधि आ मिलने से उनकी सम्मिलित शक्ति से मस्तिष्क गोलार्धरूपी पार्लमेंट स्थापित हो गई।

यही सब बातें मनुष्य की गर्भावस्था से लेकर उसी क्रम से होती हैं जिस क्रम से कि वह नीच जीवों से उच्च जीवों के पर्यंत होती आईं। गर्भ में रशांश के चौतरफ डोरी-सी फिर जाती है और वह डोरी छोरों पर लिपटकर बीच में धँसकर सिर की तरफ निकलने लगती है। निकलते ही सामने नासा पोटली, आँखों से निकलने वाली डोरी से नेत्र पोटली, कानों से निकलनेवाली डोरियों से श्रोत पोटली बनकर इन तीनों से मस्तिष्क गोलार्द्ध निकलने लगता है और इन सबको लपेट कर इन सबसे बड़ा भाग रोक कर मस्तिष्क 100 में 85 के अनुपात को पहुँच जाता है।

14

शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन

पहले यह माना जाता था कि विद्या कोई बाहरी चीज है जिसे गुरु पढ़नेवाले के हृदय में घुसेड़ता है। पढ़नेवाले का हृदय कोरा कागज है और उस पर गुरु नये अक्षर और नये संस्कार अंकित करता है। उसके खाली मस्तिष्क में या पोले मन में कोई बहुमूल्य पदार्थ बाहर से भरा जाता है जैसा कि रहीम ने एक सुन्दर उपमा से कहा है :

रहिमन विद्या पढ़न में, बालक झोंका खाय।
तन घट अरु विद्या रतन, भरत हिलाय हिलाय ॥

अथवा जैसा वैदिक काल की एक पुरानी गाथा कहती है –

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
एवं गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥

(जैसे कुदाली में खोदते-खोदते आदमी को पानी मिल जाता है वैसे सेवा करने वाले को गुरु में से विद्या मिलती है।)

पर यह आदर्श अब बदल गया है। विद्या कोई बाहरी चीज नहीं है जो गुरु को बाहर से ठूँस कर भरनी पड़ती है। गुरु का काम शिष्य के हृदय की सोती हुई शक्तियों को जगाना है, उसके सहज और परम्परागत संस्कारों को चिताना है। पीढ़ियों से पशुत्व और मनुष्यत्व के जो भाव उसके मस्तिष्क में हैं उन्हें उत्तेजित करना, उनमें जो हानिकारक हों उन्हें मिटाना और जो अच्छे हों उन्हें प्रबल कर देना – ये गुरु का काम है। गुरु धोबी के गधे को जौनपुर का काजी नहीं बना सकता। कथा के अनुसार वह फिर रस्सी देखकर दौड़ा चला जावेगा। गुरु बाहर से कुछ नहीं डालता, भीतर के अचेतन बलों को चमका देता है। गुरु का काम जिला करने वाले का, या रत्नों को घिसनेवाले का है, नई वस्तु गढ़नेवाले का नहीं। भवभूति इस सत्य को कुछ-कुछ कह गया है :

वितरति गुरु प्राज्ञे विद्यां तथैव, तथा जडे-
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहंति वा।
भवति च त्तयोर्भूयान् 'भेदः' फलं प्रति तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्विम्बोद्ग्राहे मृणिर्न मृदां चयः ॥

जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी हो, उसे जैसे सड़क की लीक पर छोड़ दिया और यह कह दिया कि इधर दहने हाथ जाना और उधर बायें हाथ, और उपनिषदों की भाषा में, वह 'पण्डित मेधावी गांधार देश को पहुँच जाएगा।' वैसे ही गुरु मार्ग दिखा सकता है। अज्ञान-तिमिरांध

की आँखें वह ज्ञानांजन-शलाका से खोल सकता है, जन्मांध को वह आँख नहीं दे सकता। विद्यार्थी अनगढ़ लकड़ी के कुंदे नहीं होते, वे पशु होते हैं, मनुष्य होते हैं। प्रकृति उन्हें शिक्षा दे रही है। गुरु का काम केवल प्रकृति की सहायता करना है। बल्कि बालक निचले नहीं बैठ सकते। जो गुरु उन्हें चित्र की तरह निःस्पंदन बिठाकर स्थिरोपवेश बनाना चाहता है वह बड़ी भूल करता है। वह प्रकृति की चलती चक्की में कंकर डालता है, प्रवृत्ति के स्वाभाविक रस के स्रोत को सुखाता है। चतुर गुरु वह है जो उनकी इस प्रवृत्ति को उचित मार्ग में जोतकर वनस्पति-विज्ञान, पदार्थ-परिचय और सहयोगिता की शिक्षा देता है। पहले यह माना जाता था कि सीखनेवाले सिखाया जाना नहीं चाहते। रीते मुँह पाठशाला में जाते हैं और छूटते ही तीर की तरह भागते हैं। खेलना वे चाहते हैं। पढ़ना नहीं। खेलने से खराब होने की धमकी और पढ़ने से नवाब होने की प्रलोभना कहावतों में उनकी आँखों के सामने नचाई जाती थी। अब यह सब बदल गया है। खेलना बड़ी भारी शिक्षा है। जितने मनुष्यत्व केअंग खेल में और खुले में सीखे जाते हैं उतने गुरु जी की तंग कोठरी में पट्टी और खड़िया से नहीं। एक बात में पहले पण्डित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का यत्न आदर्श माना जाता है। यह दूसरी बात है कि आजकल की शिक्षा में कुछ दोष बिना बुलाये आ घुसते हैं जैसे पहले की शिक्षा में गुण अकस्मात् आ जाते थे। यहाँ केवल आदर्शों का विचार है, व्यावहारिक गुण-दोष का नहीं। यही दावा है कि नई आदर्श प्रणाली जैसी चाहिए वैसी यहाँ चल रही है। प्रत्युत शिक्षा प्रणाली में यह देश बड़ी असमंजस में पड़ा हुआ है। न पुरानी चाल के अच्छे अंश ही रहे हैं और न नई के गुण अभी चल सके हैं। इस लेख में केवल सिद्धान्तों का विचार है।

विद्यार्थी पात्र (बरतन) माना जाता था। पर कुछ खोदनेवाले का सा परिश्रम करने की उससे आशा की जाती थी। ऊपर की वैदिक भाषा में 'शुश्रूषु' पर ध्यान दीजिए। जिस समाज में गुरु कुछ वेतन नहीं पाते थे, जहाँ विद्या का बेचना पाप था, वहाँ सेवा में शिष्यों को जोतना अर्थशास्त्र के अनुसार था। गुरु शिष्य के मन को सुधारने में जो श्रम करता था उसका विनिमय (क्योंकि बदला अवश्य चाहिए, चाहे वह माहवारी तनख्वाह हो, चाहे खेती की रखवाली और चाहे समावर्तन के पीछे गुरुदक्षिणा की आशा) छात्रों की मेहनत से हो जाता था। संस्कृत का इतिहास इस सेवा के कितने ही उल्लेखों से भरा पड़ा है। कहीं गुरु बरसते पानी में शिष्य को अपनी बह जानेवाले खेत की मेंड़ बना देता है, कहीं वह चार सौ दुर्बल गायें सौंपकर उसे कहता है कि उन्हें बिना हजार किये जंगल से मत लौटना, कहीं अपने वीर शिष्यों के द्वारा अपने पराजय का बदला किसी अभिमानी राजा से निकालना चाहता है। और गुरु पत्नियाँ कहीं अपनी भूषणप्रियता से राजमहिषी के कुंडल मँगवाती हैं, कहीं विद्यार्थियों को गौओं का दूध पीना तो दूर रहा बछड़ों के मुँह पर लगा हुआ झाग पीने से रोकती हैं, कहीं रगड़कर इतनी मजदूरी लेती हैं कि विद्यार्थी पढ़ने को प्रणाम करके हिमालय में तपस्या करने चला जाता है और शिव जी को प्रसन्न करके जगत् भर से कहलाता है कि 'हताः पाणिनिना वयम्'। हमें पापिनी ने मार डाला। और विद्यार्थी पण्डित होकर किस प्रकार उस अपनी कठोर सेवा को प्रेम से याद करते

हैं। मुरारि 'गुरुकुल क्लिष्ट' होने का अभिमान करता है और श्रीहर्ष अपनी कविता की गाँठें श्रद्धा से गुरुसेवा करनेवालों से खुलवाने की आशा करता है। पर इतना पानी भरने और लकड़ियाँ ढोने पर भी जिसे कुछ आ गया उसे आ गया, गुरु का कुछ दायित्व नहीं। अब सारा परिश्रम गुरु के सिर पर है। यदि विद्यार्थी न समझें तो उसका दोष है, उसे समझाने का ढंग नहीं आता। वह बालक-मनोविज्ञान से अजान है। उसे प्रत्येक बालक के इतिहास से, उसके वंशगत विचारों से, उसकी रुचियों से, जानकार होना चाहिए, जिससे वह उनका सुधार कर सके।

यह सम्भव नहीं कि हर किसी को हर कोई पढ़ा ले। तभी तो कहा गया है कि 'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान्, पुरुषो वेद' – जिसे माता, पिता और पीछे आचार्य सिखावे, वही सीख सकता है। इसी से तो कहा गया है कि 'पितैबो धनयेत् पुत्रम्' पिता ही पुत्र को सिखावे। जितनी बालक की प्रवृत्तियों की जानकारी माता को और उसके पीछे पिता को होती है, उतनी बाहर के किसको हो सकती है। परन्तु सभ्यता के कारण काम करने की शक्ति इतनी बिखर जाती है कि प्रत्येक पिता अपने पुत्र को नहीं पढ़ा सकता और श्रम-विभाग का भी एक उदाहरण है कि सिखाने वालों का एक समूह पृथक् बन जाय। पुराने लोग अपने खेत में अन्न उपजा कर अपने लिए आप ही कपड़ा बुनते और लकड़ी काटने के लिए आप ही कुल्हाड़ी बनाकर चौकियाँ बना लेते हों, पर अब किसान और जुलाहा, लोहार और खाती का न्यारा-न्यारा है। पर पढ़ाने के काम में इतनी छीछालेदर है जितनी किसी में नहीं। रोगी अपनी चिकित्सा आप नहीं करता न वह चाहता है कि मेरे पुत्र की चिकित्सा अनाड़ी डाक्टर करे। अपना रुपया हम ऐसे कोठीवाले के यहाँ रखना नहीं चाहते, जो धन विनियोग के सिद्धांतों को न जानता हो। अपना मुकदमा हम स्वयं कचहरी में नहीं ले जाते और न ऐसे वकील को सौंपते हैं जो पैरवी न कर सकता हो। पर अपने बालकों की शिक्षा का भार हम या तो स्वयं उठाने का बहाना करते हैं, या ऐसे लोगों को सौंपते हैं जो डाक्टर या वकील या और कुछ बनने में अयोग्य सिद्ध होकर लड़के पढ़ाना प्रारम्भ करते हैं। जो और पेशों में सफलता नहीं पा सकते हैं उनके लिए मास्टरी का द्वार खुला है, आफिसों के क्लर्क अपने कलम रगड़ने से फुरसत के समय को लड़के पढ़ाने में लगाना चाहते हैं। और यह एक साधारण उक्ति है कि 'और कोई रोजगार नहीं हुआ तो चार लड़के ही पढ़ा कर गुजारा करेंगे'। शाहजहाँ ने भी अपनी कैद के दिनों में अपने सुपुत्र औरंगजेब के समय काटने के लिए पढ़ाने को लड़के माँगे थे।

विश्वविद्यालय के नये उपाधिकारियों को गुरु बनाना, नाई का हाथ जम जाय इसलिए अपना सिर छिलवाना है। यों रटाई होती है, पढ़ाई नहीं। पढ़ाना भी एक कला है जिसे पूरी तरह न जाननेवाला निभा नहीं सकता। यों तो सिखाना कविता की तरह ईश्वर की देन है, सौ-सौ ट्रेनिंग स्कूलों में धक्के खाने पर भी वह योग्यता नहीं हो सकती जो 'जन्म के गुरु' को होती है, पर आजकल पढ़ाना भी पढ़ना चाहिए। पढ़ाने की परीक्षा होती है। समझाने का विज्ञान जानना होता है। विकासवाद के तत्त्व टटोलने पड़ते हैं। समाजशास्त्र और प्राणिशास्त्र, ज्ञानतंतुशास्त्र और आचारशास्त्र का मनन करना होता है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि अच्छा विद्वान अच्छा अध्यापक हो। कभी-कभी इसके बिलकुल विपरीत होता है। विद्वान अपने को बालकों

की बुद्धि के पलड़े पर नहीं बिठा सकता, वह चौमंजिले से खड़ा-खड़ा बालकों के क्षितिज के ऊपर देख सकता है। बालक छोटी-सी झड़बेरी के फल तोड़ सकते हैं, ऊँचे आम के नहीं।

'मारना' गुरुओं का एक अमोघ शस्त्र है। जो बात समझाने से किसी शिष्य के मन में न बैठे वह मार कर बिठाई जाय। हजरत सुलेमान कह गये हैं कि 'लाठी को बचाओ और बालक को बिगाड़ो'। 'मनुस्मृति' में शिष्य और पुत्र के मारने की मनाई नहीं है और भाष्यकार पतंजलि खंडिकोपाध्याय की चपेटिकाओं को जगह-जगह याद करके एक पुराने श्लोक को उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार चोर और क्रुद्ध गुरु भयदायक पड़ोस से दूर रहने में ही भलाई कही गई है:

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो दूराच्च कुपितोद्गुरौः॥

एक और स्थान पर उन्होंने गुरु के हाथों को अमृतमय कहा है, परन्तु ताड़न में, गुण और लाड़ लड़ाने में दोष समझने की पुरानी कहावत है :

सामृतैः पाणिर्भिन्ति गुरुवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषासतड़नाश्रयिणो गुणाः॥

'जोशी की चोट और विद्या की पोट' वाली कहावत के बल पर गुरु की 'मूरख समझावनी' राजदण्ड से भी बढ़कर चला करती थी। वर्तमान शिक्षा-विज्ञान ने यह प्रतिभा भी तोड़ दी है। आजकल बालक को मारना एक कायरपन है, जिसका सहारा यह जानकर कि बालक लट्ठ के जवाब में लट्ठ नहीं मार सकता, केवल कापुरुष ही लेते हैं। आचरण सम्बन्धी अपराधों में शासन के लिए मारने की उपयोगिता मानी गयी है पर वह भी भय उपजाने के लिए और दण्ड की बुद्धि से पीड़ा पहुँचाने और बदला लेने की नीयत से नहीं। अधिक मार से बालक निर्लज्ज हो जाते हैं और बुद्धि के दोषों, न समझने और न याद रखने आदि पर शारीरिक दण्ड का प्रयोग अनुचित है। गुरु की आँख का दण्ड, साथियों के सामने हँसे जाने का दण्ड और गुरु के प्रसाद का पुरस्कार अब इस प्राचीन प्रथा को निर्दय और अनावश्यक सिद्ध करते जाते हैं।

यह कहा जा चुका है कि पहले पण्डित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का। पहले भाषा के जानने पर अनावश्यक जोर दिया जाता था, अब विषयों पर ध्यान है। लैटिन या ग्रीक, या संस्कृत का कोश और व्याकरण की रटाई के भरोसे पढ़ना विद्या की सीमा थी। कितने वर्ष व्यर्थ इस अलूनी सिला को चाटने में बीतते थे। अब भाषा पढ़ाई जाती है तो वह ज्ञान का लक्ष्य नहीं मानी जाती, ज्ञान का साधन मानी जाती है। भाषा 'भाषा' की तरह कान और मुख को सिखाई जाती है, तोते की तरह स्मृति को नहीं। न अधिकारी और अनधिकारी का भेद था। उदार शिक्षा और विशिष्ट अभ्यास में कोई अन्तर नहीं किया जाता था। संस्कृत भाषा को भाषा समझकर नहीं पढ़ा जाता था, परन्तु प्रत्येक मनुष्य ही नागोजी भट्ट के लच्छेदार परिष्कारों में उलझकर रात बिता कर फिर सवेरे जहाँ से चला वहीं लंघाई के भाड़े की कुटिया पर खड़ा मिलता था। तभी तो ज्ञानी पश्चात्ताप करते थे कि काल के आने पर 'डुकृञ्‌ करणे' नहीं बचाता। जो समय शब्दों में बीतता था, वह भावों में लगाया जाता है। गणित, पदार्थ-विज्ञान, रसायन आदि की शिक्षा मनुष्यों में 'क्यों' और 'कैसे' के प्रश्नों को नित्य जगाती

जाती है। पहले जो आचार्य ने लिखा है वह बिना समझे ही मानना होता था, पीछे वर्षों के श्रम के बाद चाहे वह समझ में आवे,चाहे न आवे। अब गणित के नियम सूत्र या गुर से नहीं सिखाये जाते, पचास सवाल करके स्वयं गुर या सूत्र निकालने के लिए शिष्य तैयार किया जाता है। स्मृति को अनावश्यक बोझ से लादा नहीं जाता, परन्तु उसे जागती हुई समझ कर जेबी बटुआ बनाया जाता है। इतिहास केवल तारीखों की कड़ी या राजाओं की नामावली नहीं रहा है, वह मनुष्यों के व्यवहारों के अनिष्फल परिणामों का अनुशीलन है। भूगोल केवल नदियों और शहरों की सूची नहीं है वह जल, स्थल और ऋतुओं के परिवर्तन और बस्ती के बदलने के कारणों की खोज है। एक बात में पहले हम छात्रावस्था में मुँह में भरी हुई घास की जन्म भर जुगाली करते थे, अब काम की चीजों को चुन सकने और ले सकने के लिए तैयार कर दिये जाते हैं। अपनी खोज से पाया हुआ आलू दूसरे के दिये हुए जमीकंद से अच्छा है – इस सिद्धांत के लिए छात्र तैयार किए जाते हैं। गुरु का काम साधारण और उदार शिक्षा से मन का मैल धो देना है, पीछे खोजी अपने आप जैसा रंग चाहे वैसा चढ़ा ले।

पहले जल्दी बहुत की जाती थी। आठ वर्ष की नियत अवस्था तक जिसे ब्रह्मचर्य पा सकने की प्रतीक्षा न थी उसका उपनयन पाँच वर्ष की ही उमर में किया जा सकता था। पतंजलि ने आह भरकर कहा है कि 'वेदमधीत्यव्वरिता: प्रवक्तारो भवंति' और मध्य समय के योरप के विश्वविद्यालयों में जितनी छोटी उम्र में डाक्टर की पदवी पाई जाती थी उतनी ही प्रतिष्ठा होती थी। यहाँ भी यह घमंड मारा जाता है कि 'अमुक ने बारह वर्ष की अवस्था में मैट्रीकुलेशन कर लिया था।' इसका फल वही होता था, जो बालविवाह का होता है। उधर दादा जी को गोदी में नाती खिलाने का सौभाग्य मिलता है, इधर दूध के दाँत टूटते न टूटते त्रिकोणमिति होने लगती है। जब सीखने की प्रकृत अवस्था आती है तब कमर झुक और और आँख धँस चुकती है। प्रकृति का पृष्ठ खुलने के बदले बन्द हो जाता है। वर्तमान शिक्षाशास्त्र समय को यों सरपट दौड़ने की अनुमति नहीं देता। वह कहता है कि जब तक देह का पूरा विकास न हो ले, तब तक मन को लादने का उद्योग न करो, नहीं तो मिठाई के मार से छींके के टूटने का शोकमय नाटक अभिनीत होगा।

एक पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। मैं भी वहाँ बुलाया गया था। वहाँ के प्रधान अध्यापक का एक मात्र पुत्र, जिसकी अवस्था 8 वर्ष की थी, बड़े लाड़ से नुमाइश में मिस्टर हादी के कोल्हू की तरह दिखाया जा रहा था। उसका मुँह पीला था, आँखें सफेद थीं, दृष्टि भूमि से उठती नहीं थी। प्रश्न पूछे जा रहे थे। उनका वह उत्तर दे रहा था। धर्म के दस लक्षण वह सुना गया, नौ रसों के उदाहरण दे गया। पानी के चार डिग्री के नीचे शीतता में फैल जाने के कारण और उससे मछलियों की प्राणरक्षा को समझा गया, चंद्रग्रहण का वैज्ञानिक समाधान दे गया, अभाव को पदार्थ मानने न मानने का शास्त्रार्थ कह गया और इंग्लैंड के राजा आठवें हेनरी की स्त्रियों के नाम और पेशवाओं का कुर्सीनामा सुना गया। यह पूछा गया कि तू क्या करेगा। बालक ने सीखा सिखाया उत्तर दिया कि मैं यावज्जन्म लोक सेवा करूँगा। सभा 'वाह-वाह' करती सुन रही थी, पिता का हृदय उल्लास से भर रहा था। एक वृद्ध महाशय ने

उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा कि जो तू इनाम माँगे वही दें। बालक कुछ सोचने लगा। पिता और अध्यापक इस चिन्ता में लगे कि देखें यह पढ़ाई का पुतला कौन-सी पुस्तक माँगता है। बालक के मुख पर विलक्षण रंगों का परिवर्तन हो रहा था, हृदय में कृत्रिम और स्वाभाविक भावों की लड़ाई की झलक आंखों में दीख रही थी। कुछ खाँसकर, गला साफ कर नकली पड़दे के हट जाने पर स्वयं बालक ने धीरे से कहा, 'लड्डू'। पिता और अध्यापक निराश हो गए। इतने समय तक मेरा श्वांस घुट रहा था। अब मैंने सुख से साँस भरी। उन सबने बालक की प्रवृत्तियों का गला घोटने में कुछ उठा नहीं रखा था। पर बालक बच गया। उसके बचने की आशा है क्योंकि वह 'लड्डू' की पुकार जीवित वृक्ष के हरे पत्तों का मधुर मर्मर था, मरे काठ की अलमारी की सिर दुखाने वाली खड़खड़ाहट नहीं।

(प्रथम प्रकाशन : विद्यार्थी : 18 नवम्बर, 1914 ई.)

15

डिनामेनिशनल कालेज

यों तो हम लोग सभाओं और सम्वादपत्रों में जातीय भाव, सहानुभूति और योग्यता की डींग हांककर सरकार से अधिकार तक माँगने दौड़ते हैं, पर हम कापुरुष, कूपमण्डूक किसी लायक नहीं हैं। भारतवर्ष एक राष्ट्र नहीं है, भूगोल की पुस्तकों के सिवा भारतवर्ष कहीं कोई चीज़ ही नहीं है, और यह महाद्वीप एक दूसरे को काटने दौड़ती हुई बिल्लियों का पिटारा वा एक दूसरे से रगड़कर सुलगती आग जलाने वाले बाँसों का सूखा वन है, और ब्रिटिश सरकार का छत्र न होने से यहाँ दावाग्नि भड़क उठना असम्भव नहीं। मुहर्रम, बकरीद और गोरक्षा की गदर्रें इस बात की प्रभूत प्रमाण हैं। सारे 'इण्डिया' ने नेशनल कांग्रेस की, किन्तु मुसलमान उसे छोड़ बैठे, पंजाब उसे छोड़ बैठा, और प्रत्येक उपजाति, शाखा, बिरादरी को अपनी-अपनी कानफरन्स करने का शौक चर्राया। इस मेंढकी के जुकाम के अन्दर भी जुकाम चले, क्योंकि वैश्य महासभा के भीतर खण्डेलवाल महासभा मौजूद है। जिस कुल्हिया में गुड़ फोड़ने की मूर्खता ने हमें पृथक् कर रक्खा है उसे हम दृढ़ करने लगे, अपनी बेड़ियाँ अपने चौतरफ जकड़ने लगे, और सनाढ्य महासभा, सरयूपारी महासभा प्रभृति का काम इसी में पूरा होने लगा कि उसी शाखा के लोग काम करें और सरकार से निवेदन किया जाय के कुछ नौकरियाँ खास उन्हीं के लिए रक्खी जायँ। यह कहने वाले किस मुँह से सरकार को कहते हैं कि यूरोपियन और एंग्लो इण्डियनों को अर्धचन्द्र दे दो? जिस दफ्तर में दस कायस्थ हैं वहाँ एक ब्राह्मण को देखकर नाक चढ़ाया जाता है; जहाँ पांच मुसलमान हैं वहाँ एक हिन्दू नहीं खटाता; जिस रियासत में दस बंगाली हैं वहाँ एक देसी का निबाह नहीं; और दस दक्षिणियों में एक रांगड़े-देसवासी की नहीं चलेगी। किन्तु इन भद्दे भेदों को दृढ़ करने के लिए, इन्हें वज्रलेप करने के लिए प्रजाति कालेज वा डिनामिनेशनल कालेजों की सृष्टि है।

संसार में यदि कोई स्थान संकीर्णता को मिटाकर भाई-भाई को मिलाने का है, तो वह विद्यापीठ कालेज है। किन्तु यह तड़ेबन्दी वहाँ पहुँची है, और फर्गुसन् पचयप्पा, हिन्दू आदि कालेजों के दृष्टान्त को छोड़कर जाति विशेष के दानी अपनी जाति के लिए देने चले। यदि गंगाधर शास्त्री आगरा कालेज दक्षिणियों के लिए ही करते, यदि विद्यासागर का मेट्रोपोलिटन ब्राह्मणों ही के लिए होता, यदि प्रेमचन्द रायचन्द की बादशाही उदारता श्वेताम्बर जैनियों के लिए और टैगोर ला लेकचर की सम्पत्ति निराली बंगालियों के लिए ही होती, तो हमें करम ठोकने के सिवाय क्या बस रहता। पढ़ने से उपेक्षा करने वालों को लासा लगाकर खैंचने के लिए अपने कालेज काम देते हैं किंतु उनसे हानि बड़ी है। मुहमडन एंग्लो कालेज को

यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं। वह बना कि इस मसखरों के देश में बिरादरी-बिरादरी की यूनिवर्सिटी बनी। एक फिरके की यूनिवर्सिटी भी क्या मज़ाक है! क्या मुसलमानों के लिए और सायंस है और राजपूतों के लिए और? क्या केमिस्ट्री के जो भाग वे पढ़ेंगे उन्हें ये न पढ़ेंगे?

अमृतसर में कोई अच्छा कालेज नहीं था तो सिक्खों की दानवीरता ने एक बढ़िया कालेज खोला तो सही, पर सिक्खों ही के लिए! मारवाड़ियों को कलकत्ते में हिन्दी की पढ़ाई न होने से कालेज की जरूरत थी, किन्तु क्या किसी कालेज में हिन्दी की चेयर एण्डाउ (प्रदान) से काम न चलता? दो लाख रुपये में जो कालेज बनेगा, वह कलकत्ते के कालेजों के सामने अयोग्य न होगा? इधर 'राजपूत' एक जातीय (!) कालेज की दुहाई दे रहा है, और दस हजार रुपया (!) इकट्ठा हो चुका है! राजपूतों में पढ़ने की उपेक्षा नहीं है, जो अधिक धनवान् हैं, या जो बिल्कुल बुभुक्षित हैं उन्हें छोड़ और सब पढ़ सकते हैं और पढ़ते हैं। उपदेश और छात्रवृत्तियों से यह काम हो जाता। राजपूतों के निवास-स्थानों के आसपास दो दिल्ली में, अढ़ाई आगरे में, एक जयपुर में, एक जोधपुर में, एक अजमेर में, एक ग्वालियर में, एक इन्दौर में, इतने बढ़िया कालेज हैं। यदि इनके समान या इनसे अच्छा कालेज राजपूत लोग बनावें (जिसकी राजपूतजी क्षमा करें हमें आशा नहीं है) तो उनका कालेज किसी काम का भी होगा, नहीं तो अधकचरा कालेज उनकी शिक्षा को रोकेगा। क्या यह भी नियम होगा कि उसी जाति के मनुष्य जाति मात्र से नौकर रक्खे जायँ? जातीय कालेज इस वास्ते भी किया जाता है कि उनमें धर्मशिक्षा हुआ करेगी। किन्तु धर्मशिक्षा भी एक भकौआ है। यह बात साफ कहना अच्छा है कि जो धर्म बलात्कार से कराया जाय वह धर्म नहीं है, अधर्म है।

अलीगढ़ में पञ्जगाना नमाज़ में न शरीक होने से दस आना जुर्माना देना पड़ता है। इससे चाहे सभी मस्जिद में जायँ, किन्तु नये मुसलमानों का धर्म उससे दृढ़ नहीं होता। देखा चाहिएं, जबरदस्ती नाक पकड़कर सन्ध्या कराने वाले सेन्ट्रल कालेज के हिन्दू कैसे धर्मात्मा होंगे। केवल धर्म की लीक पीटना और सदाचार को भूलना, केवल चालों पर जोर देना कदापि हित नहीं है। जब बालक चलने लगे, तो उसकी टाँगे बाँधनी नहीं चाहिए। इस प्रक्रिया में ऐसे लोग पैदा होंगे, जो यन्त्रालय में बैठकर ग्रहण का गणित सिखायेंगे, किन्तु ग्रहण में दानव सूर्य को न खाय इससे दान करेंगे। जो शीतला के टीके का सिद्धान्त जान कर भी चैत्र कृष्ण अष्टमी को गधे की पूजा करेंगे! आजकल वह उदार धर्म चाहिए जो हिन्दू, सिक्ख, जैन, पारसी, मुसलमान, कृस्तान सबको एक भाव से चलावे, और इनमें बिरादरी का भाव पैदा करे, किन्तु संकीर्ण धर्मशिक्षा और 'जातीय' कालेज (जैसे पन्द्रह जैनी विद्यार्थियों का मथुरा में एक जैन महाविद्यालय है) हमारी बीच की खाई को और भी चौड़ी बनाएँगे। अभी भारतवर्ष को बहुत दिन पश्चिम की शागिर्दी करना आवश्यक है, क्योंकि कितने आदमी ऐसे हैं जिन्हें यह देखकर लज्जा आती हो कि टाटा महाशय अपनी सारी सम्पत्ति भारतवर्ष को देते हैं, और इधर 'गली-गली में' जातीयता फूट रही है। जितनी डफली उतने तान!!

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मई, 1904 ई.)

16

काशी के पण्डित – 1

'प्रयाग विश्वविद्यालय' के कन्वोकेशन में (जिसके बारे में 'प्रयाग समाचार' में एक पंक्ति न निकली और 'राजस्थान समाचार' ने कई कालम रंगे) छोटे लाट लाटूश साहब ने 'काशी संस्कृत कालेज' के पण्डितों की स्तुति की। उनका-सा सच्चा विद्या का प्रेम और जोश कहीं नहीं मिला। आजकल जब ब्राह्मणों को गालियाँ दी जाती हैं, भला यह बात जानी तो गई कि इनने पूछ न होने पर भी भीख मांग-मांगकर संस्कृत पढ़ाना न छोड़ा। आजकल उत्तर भारतवर्ष में उच्च संस्कृत शिक्षा की दुर्दशा ही है। काश्मीर तो कई दिनों से विद्यापीठ नहीं रहा है। पंजाब में पण्डित जैसरामजी के पीछे चर्चा ही घट गई, और अब जो कुछ पण्डित और पाठशालाएँ हैं वे ओरिएन्टल कालेज, धर्मसभा और आर्यसमाज की कृपा से हैं। रामगढ़ में कुछ काशी के पण्डित जमे थे, किन्तु 'रुद्री' और 'शीघ्रबोध' में ही उनके यत्न पूरे हो जाते हैं। जयपुर में काशी और मिथिला के पण्डितों की अच्छी कलम लगाई गई थी, किन्तु उनके पुत्रों के सिवाय वहाँ की मरुभूमि में कलम टिकना ही मुश्किल है। पण्डित हरजसरायजी के स्वर्गवास से युक्तप्रान्त में काशी के सिवाय कहीं पण्डित न रहे। मैथिल पण्डितों की दीनता बढ़ती जाती है और बंगदेश की न्यायमय टोलों के आचार्य पण्डितों को अब छात्रों को रखने लायक 'बिदाया' नहीं मिलती। नये रत्नों की खोज में 'काशी-संस्कृत कालेज' पढ़ाता और उपाधियाँ देता है, कलकत्ता और लाहौर के कालेज भी ऐसा करते हैं। किन्तु कलकत्ता-परीक्षाओं से ही लोगों को प्रेम है। बिहार संस्कृत सञ्जीवन पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के काल में काम करके शिथिल हो गया है, और उड़ीसा में टोल ही बहुत कम है।

प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान में दुभाषिएपने का काम पंजाब और प्रयाग के एम.ए. करते हैं। कलकत्ते में नदिया की प्रसिद्धि, प्रेमचन्द रायचन्द वृत्ति प्रभृति कई कारणों से कई एम.ए. संस्कृत के पूर्ण पण्डित हैं। स्वर्गीय वालन्टाइन साहब को पण्डितों को नई शिक्षा देनी इष्ट थी, उन्होंने काशी एङ्गलो क्लास खोला और मिल, बेकन के ग्रन्थों को सूत्र, वृत्ति के रूप में लिखा। बर्कले प्रभृति के ग्रन्थों का संस्कृतानुवाद कराया, किया। नैयायिकों के परमाणुवाद का खण्डन संस्कृत में लिखा। किन्तु उन्हें कुसंस्कार था कि पण्डितों का ज्ञान पश्चिमी ज्ञान से हीन कक्षा का है। पण्डितों की उदारता देखिए कि उसने बाइबल के सिद्धान्तों को सुनने और नये विज्ञानों को संस्कृत में लिखवाने में कोई आपत्ति न की। इनने और बङ्गदेश के एडमस साहब ने पण्डितों से विज्ञान संस्कृत में लिखवाने की व्यवस्था भी ले ली थी। इनमें से एक पर बड़े गुरुजी (पण्डित काकारामजी) के भी हस्ताक्षर हैं। संस्कृत के लिए वर्तमान सरकारी सहायता बहुत कम है, और

अब ग्रेजुएटों को संस्कृत पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति देने का जो प्रस्ताव है उसका हम स्वागत करते हैं; क्योंकि बड़े-बड़े पण्डित अपने पुत्रों को शास्त्र न पढ़ाकर ग्रेजुएट बनाना चाहते हैं। जो सात समुद्र पार की भाषा को 'चुलुकित' कर चुके हैं उनसे न केवल संस्कृत का उद्धार होगा, किन्तु कूपमण्डूकता का जो कलंक संस्कृत जानने वालों पर है, वह भी हट जाएगा।

'कश्मीर पाठशाला' हिन्दुओं के हाथ से निकल गई है, 'दर्भङ्गा पाठशाला' भी बदली जाने वाली है, किन्तु काशी में अब भी 'संस्कृत यूनिवर्सिटी' का सामान विद्यमान है। प्रत्येक पण्डित के घर से टीचिंग यूनिवर्सिटी और प्रत्येक धर्मशाला बोर्डिंग हाउस, प्रत्येक सत्र में छात्रवृत्ति और प्रत्येक सभा में इनाम,सब कुछ है, केवल काम नहीं, प्रबन्ध नहीं। सरकार को षट्शास्त्री ग्रेजुएटों को यजमानों पर ही न छोड़ना चाहिए, उन्हें भी डिपुटी कलेक्टरी मिलना उचित है। मथुरा मण्डल का विद्या प्रचार-स्कीम कागजों में ही है, दर्भङ्गेश्वर संस्कृत यूनिवर्सिटी की प्रतिज्ञा भूल गये। अब यदि हिन्दू यत्न करें तो जो शक्ति अवच्छेदकता प्रकारता की चक्की में वा फर्माइशी व्यवस्था गढ़ने में, वा कागजी महामंडलों में वृत्त रूप से खर्च होती है, वही 'हिन्दू संस्कृत यूनिवर्सिटी' के रूप में, सरल रेखा में चलकर पहाड़ भी फोड़ सकती है।

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-फरवरी, 1904 ई.)

16.

काशी के पण्डित - 2

काशी में कितना अनुपयुक्त और दुरुपयुक्त सामान है, इसका जानना बहुत सहज है। आजकल जब सरकार और कृत विद्य देशियों की दृष्टि इस ओर है, तो 'हिन्दी-हिन्दू-संस्कृत यूनिवर्सिटी' का प्रस्ताव उतना असम्भव नहीं मालूम पड़ता। सभा भवन खोलने के समय लाटूश साहब ने मध्यम परीक्षा पास करके आचार्य के लिए पढ़ने वाले अंग्रेजी जानने वाले छात्रों को 25) मासिक देना प्रतिश्रुत किया है। आचार्य-निपुण छात्रों को भी पाँच या तीन वर्ष विद्याभ्यास के लिए 100) वा 150) प्रतिमास देने की आशा दिलाई है। साथ ही एक अच्छे बोर्डिङ्ग की आवश्यकता भी जतलाई है। काशी में कई राजाओं के विशाल मकान खाली पड़े हैं जिनमें प्रत्येक में 50-60 छात्र रह सकते हैं और जिनमें नेपाल, दीघापटिया, दरभङ्गा, ग्वालियर, इन्दौर, मेवाड़ और जयपुर के भवन मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक को आक्सफोर्ड के होस्टलों के समान छात्रावास बनाकर एक धार्मिक ग्रेजुएट और एक षट्शास्त्री को उसका अध्यक्ष बनाया जाय। उन सत्रों को भी, जिनमें सहस्राधीश भी मुफ्त की खीर उड़ाते हैं, इनके अधीन किया जाय। विद्यार्थियों को लट्ठ चलाना और कुश्ती कराना आवश्यक हो। अवश्य ही यात्रिय के हल्ले और 'रांड सांड सीड़ी संन्यासी' से इनमें रहने वाले छात्रों को विक्षेप पड़ेंगे, किन्तु जब तक विपुल धन-सम्पत्ति से गङ्गातट में हिन्दू यूनिवर्सिटी का शान्ताश्रम स्थापन न हो, तब तक इन स्थानों को भी कब्जे में लेना चाहिए। ये सब होस्टल आक्सफोर्ड के कालेजों की तरह काशी

की पाठशालाओं को अन्तर्भूत करके पढ़ायें भी, और संस्कृत कालेज से पढ़ें और पदवियाँ भी पावें। काशी की पण्डित मण्डली भी अब नई बातों से उतनी घृणा नहीं करती और प्रबन्ध से नहीं चिढ़ती। उनके द्वारा ही पूर्व-पश्चिम का सम्मेलन होना चाहिए।

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मार्च-अप्रैल 1904 ई.)

17

कछुआ-धरम

'मनुस्मृति' में कहा गया है कि जहाँ गुरु की निन्दा या असत्कथा हो रही हो वहाँ पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या कहीं उठकर चला जाये। यह हिन्दुओं के या हिन्दुस्थानी सभ्यता के कछुआ-धरम का आदर्श है। ध्यान रहे कि मनु महाराज ने न सुनने जोग गुरु की कलंक-कथा के सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय बताये हैं। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय, जो और देशों के सौ में नब्बे आदमियों को ऐसे अवसर पर पहले सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निन्दा करने वाले का जबड़ा तोड़ दो या मुंह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे। यह हमारी सभ्यता के भाव के विरुद्ध है। कछुआ ढाल में घुस जाता है, आगे बढ़कर मार नहीं करता। अश्वघोष महाकवि ने बुद्ध के साथ-साथ चले जाते हुए साधु पुरुषों को यह उपमा दी है –

देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम्।

अनार्य लोग देश पर चढ़ाई कर रहे हैं। धर्म भागा जा रहा है। महर्षि भी उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं। यह कह लेंगे कि दक्षिण के अप्रकाश देश को कोई अत्रि या अगस्त्य यज्ञों और वेदों के योग्य बना लें... तब तक ही जब तक कि दूसरे कोई राक्षस या अनार्य उसे भी रहने के अयोग्य न कर दें... पर यह नहीं कि डटकर सामने खड़े हो जावें और अनार्यों की बाढ़ को रोकें। पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्त सिन्धुओं को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिये। पीछे वे दबाते आये। विष्णु ने अग्नि और यज्ञपात्र और अरणि रखने के लिये तीन गाड़ियाँ बनाईं, उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आँज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिये हुए यह "कारवां" मूजवत् हिन्दूकुश के एकमात्र दर्रे ख़ैबर में होकर सिन्धु की घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अम्भारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशन शण्ड, मर्क मारते चले आते थे, वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लम्बी डग भरने वाले विष्णु ने पीछे फिर कर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आये और यहाँ "भ्रातृव्यस्त वधाय", "सजातानां मध्यमेष्ठ्याय" देवताओं को आहुति देने लगे। चलो, जम गये। जहाँ-जहाँ रास्ते में टिके थे वहाँ-वहाँ यूप खड़े हो गये। यहाँ की सुजला सुफला शस्यश्यामला भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, यानी मूजवत् पहाड़ की सोमलता का, चसका पड़ा हुआ था।

लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं। जैसे आजकल लखपति, करोड़पति कहलाते हैं वैसे तब "शतगु", "सहस्रगु" कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने "नवग्वाः", "दशग्वाः" पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचने वाले पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहाँ भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमा प्रान्त पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता कि वाह ! सोमराजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिये कहा था कि याही में बेटी और याही में बेटा, ऐसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता, उसके पास सोम की मानोपली थी और इन्हें बिना लिये सरता नहीं। अन्त को गौ का एक पाद, अर्ध होते-होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखों वाली एक बरस की बछिया में सोमराजा खरीद लिये जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते। जैसे मुसलमानों के यहाँ सूद लेना तो हराम है, पर हिन्दू साहूकारों को सूद देना हराम होने पर भी देना ही पड़ता है। वैसे यह तो फतवा दिया गया कि "पापो हि सोमविक्रयी" पर सोम क्रय करना – उन्हीं गन्धर्वों के हाथ गौ बेचकर सोम लेना -- पाप नहीं कहला सका। तो भी सोम मिलने में कठिनाई होने लगी। गन्धर्वों ने दाम बढ़ा दिये या सफर दूर का हो गया, या रास्ते में डाके मारने वाले "वाहीक" आ बसे, कुछ न कुछ हुआ। तब यह तो हो गया कि सोम के बदले में पूतिक लकड़ी का ही रस निचोड़ लिया जाय, पर यह किसी को न सूझी कि सब प्रकार के जलवायु की इस उर्वरा भूमि में कहीं सोम की खेती कर ली जाय जिससे जितना चाहे उतना सोम घर बैठे मिले। उपमन्यु को उसकी माँ ने और अश्वत्थामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की सीखों से देवता पतियाए जाने लगे।

अच्छा, अब उसी पंचनद में वाहीक आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड-कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की महिमा हो गई और वह पुराना देश- – न तत्र दिवसं वसेत् ! युगन्धरे पयः पीत्वा कथं स्वर्ग गमिष्यति ! ! !

बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते मारते तो सही, बेधर्म भी कर देते। बस, समुद्र यात्रा बन्द ! कहाँ तो राम के बनाये सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जाने वाले द्विज का प्रायश्चित कराकर भी संग्रह बन्द। वही कछुआ धर्म ! ढाल के अन्दर बैठे रहो।

पुर्तगाली यहाँ व्यापार करने आये। अपना धर्म फैलाने की भी सूझी। "विवृत-जघनां को विहातुं समर्थः" ? कुएँ पर सैकड़ों नर-नारी पानी भर रहे और नहा रहे थे। एक पादरी ने कह दिया कि मैंने इसमें तुम्हारा अभक्ष्य डाल दिया है। फिर क्या था ? कछुए को ढाल बल

उलट दिया गया। अब वह चल नहीं सकता। किसी ने यह नहीं सोचा कि अज्ञात पाप पाप नहीं होता। किसी ने यह नहीं सोचा कि कुल्ले कर लें, घड़े फोड़ दें या कै ही कर डालें। गाँव के गाँव ईसाई हो गये। और दूर-दूर के गाँवों के कछुओं को यह खबर लगी तो बम्बई जाने में भी प्रायश्चित कर दिया गया।

हिन्दू से कह दीजिए कि विलायती खांड खाने में अधर्म है। उस में अभक्ष्य चीजें पड़ती हैं। चाहे आप वस्तुगति से कहें, चाहे राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिये उसकी सहानुभूति उपजाने को कहें। इसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधरनी चाहिए। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि गन्ने की खेती बढ़े। उसका केवल एक ही कछुआ उत्तर होगा – वह खांड खाना छोड़ देगा, बनी-बनाई मिठाई गौओं को डाल देगा या बोरियाँ गंगाजी में बहा देगा। कुछ दिन पीछे कहिए कि देसी खांड के बेचने वाले भी सफेद बूरा बनाने के लिये वही उपाय करते हैं। वह मैली खांड खाने लगेगा। कुछ दिन ठहरकर कहिए कि सस्ती जावा या मोरस की खांड मैली करके बिक रही है। वह गुड़ पर उतर आवेगा। फिर कहिए कि गुड़ के शीरे में भी सस्ती मोरिस की मैल का मेल है। वह गुड़ छोड़कर पितरों की तरह शहद (मधु) खाने लगेगा। या मीठा ही खाना छोड़ देगा। वह सिर निकालकर यह न देखेगा कि सात सेर की खांड छोड़कर डेढ़ सेर की कब तक खाई जायेगी, यह न सोचेगा कि बिना मीठे कब तक रहा जायगा। यह नहीं देखेगा कि उसकी सी मति वाले शरबत न पीने वालों की संख्या घटती-घटती दहाइयों और इकाइयों पर आ जा रही है, वह यह नहीं विचारेगा कि बन्नू से कलकत्ते तक डाकगाड़ी में यात्रा करनेवाला जून के महीनों में झुलसते हुए कंठ को बरफ से ठंडा किये बिना नहीं रह सकता। उसका कछुआपन कछुआ-भगवान की तरह पीठ पर मंदराचल की मथनी चलाकर समुद्र से नये-नये रत्न निकालने के लिये नहीं है। उसका कछुआपन ढाल के भीतर और भी सिकुड़कर घुस जाने के लिये है।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है। दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। अपनी-अपनी समझ है। संसार में त्रिविध दुःख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिये उपाय भी किये जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे सन्तोष न हुआ तो सुने सुनाये (आनुश्रविक) उपाय किये। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ कड़ी गिन-गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा, किसी ने कहा कि बहस, बकझक, वाक्छल, बोली की चूक पकड़ने और कच्ची दलीलों की सीवन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है। यही शगल सही। किसी न किसी तरह कोई न कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की माँ को ही न मारें। न रहे बाँस न बजे बाँसरी। यही जीवन ही तो सारे दुःखों की जड़ है। लगी प्रार्थनाएँ होने –

"मा देहि राम! जननीजठरे निवासम्" "ज्ञात्वेत्थे न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं जनाः"[1] और यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का

1. "हे राम! जननी के गर्भ में निवास मत देना।"
"ऐसा ज्ञान होने पर जननी के गर्भ का स्पर्श मनुष्यों को नहीं करना पड़ता।"

यह कहते-कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़-बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें – सौ बरस ही क्यों, सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम-फिर सकते हों और समुद्र की मछलियाँ मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अँधियारे में क्या खायेंगे, वहाँ जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है। पर जहाँ राम के राज में "अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु" बिना खेती के फसलें पक जायें और पत्ते-पत्ते में शहद मिले, वहाँ इतना वैराग्य क्यों ?

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। कवि कहता है–

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥

महाशय यों ही मौज से घूमने निकले हैं। सुरपुर में अफवाह पहुंची। बस, इन्द्र ने झटपट किवाड़ बंद कर दिये, आगल डाल दी। मानो अमरावती ने आँखें बन्द कर लीं।

यह कछुआ-धरम का भाई शुतुर्मुर्ग-धरम है। कहते हैं शुतुर्मुर्ग का पीछा कीजिए तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आँखों से पीछा करने वाला नहीं दीखता तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लम्बा-चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आँखें और सिर तो छिपा लिया। कछुए ने हाथ-पांव-सिर भीतर डाल लिया।

इस लड़ाई में कम-से-कम पाँच लाख हिन्दू आगे-पीछे समुद्र पर जा आये हैं। पर आज कोई पढ़ने के लिये विलायत जाने लगे तो हनोज़ रोज़ अव्वल अस्त! अभी पहला ही दिन है! सिर रेत में छिपा है!!

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : दिसम्बर 1919 ई.)

18

मारेसि मोहिं कुठाउँ

जब केकयी[1] ने दशरथ से यह वर माँगा कि राम को बनवास दे दो तब दशरथ तिलमिला उठे, कहने लगे कि चाहे मेरा सिर माँग ले, अभी दे दूँगा किन्तु मुझे राम के विरह से मत मार। गोसाईं तुलसीदास जी के भाव भरे शब्दों में राजा ने सिर धुनकर, लम्बी सांस भरकर कहा कि 'मारेसि मोहि कुठाउँ' – मुझे बुरी जगह पर घात किया। ठीक यही शिकायत हमारी आर्य समाज से है। आर्य समाज ने भी हमें कुठावँ मारा है, कुश्ती में बुरे पेच से चित पटका है।

हमारे यहाँ पूँजी शब्दों की है, जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठगे गये पर हमारी शब्दों की गांठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहाँ कई आये पर शब्दों की चोरी (महाभारत के ऋषियों की कमल नाल की ताँत की चोरी की तरह) किसी ने न की, यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरिया वालों से। उनके यहाँ असुर शब्द बड़ी शान का था। असुर माने प्राण वाला, जबरदस्त। हमारे इन्द्र की भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। फिर काम पड़ा पणियों से, फिनीशियन व्यापारियों से। उनसे हमने पण् धातु पाया जिसका अर्थ लेन-देन करना, व्यापार करना है। एक पणि उनमें से ऋषि भी हो गया जो विश्वामित्र के दादा गाधि या गाधि की कुर्सी के बराबर जा बैठा। कहते हैं कि उसी का पोता पाणिनि था जो दुनिया को चकराने वाला सर्वांग-सुन्दर व्याकरण हमारे यहाँ बना गया। पारस के पर्श्वों या पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि क्षत्रप या क्षत्रपावन् या महाक्षत्रप हमारे यहाँ रख गये और गुस्तास्प, विस्तास्प के वजन के कृश्वाश्व, श्यावाश्व, वृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गये। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे यवन की लिपि यवनानी शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर गये। साथ ही बारह राशियाँ मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ पहुँचा गये। इन राशियों के ये नाम तो उनकी असली ग्रीक शकलों के नामों के संस्कृत तक में हैं, पुराने ग्रन्थकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि काम में लेते थे। ज्योतिष में यवनसिद्धान्त को आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अब चाहे वेल्यूपेवल सिस्टम भी वेद में निकाला जाय पर पुराने हिन्दू कृतघ्न और गुरुमार नहीं थे। सेल्यूकस निकेटर की कन्या चन्द्रगुप्त मौर्य के जनाने में आई, यवन राजदूतों ने विष्णु के मन्दिर में गरुड़ध्वज बनाये और यवन राजाओं की उपाधि सोटर त्रातार

1. कैकेयी

का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहाँ आ लगी । गन्धार से न केवल दुर्योधन की मां गान्धारी आई, बालवाली भेड़ों का नाम आया । बल्ख से केसर और हींग का नाम बाल्हीक आया । घोड़ों के नाम पारसीक, काम्बोज, वनायुज, बाल्हीक आये । शक़ों के हमले हुए तो 'शाकपार्थिव' वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्व साधारण के । हूण वंक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से यहाँ चढ़ आये तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजा मुड़े हुए हूण की ठुड्डी की-सी नारंगी । कलचुरि राजाओं को हूणों की कन्या मिली । पंजाब में वाहीक नामक जंगली जाति आ जमी तो बेवकूफ, बौड़म के अर्थ में (गौर्वाहीकः) महाविरा चल गया । हाँ, रोमवालों से कोरा व्यापार ही रहा पर रोमक सिद्धान्त ज्योतिष के कोश में आ गया । पारसी राज्य राज्य न रहा पर सोने के सिक्के निष्क और द्रम्म (दिरहम) और दीनार (डिनारियल) हमारे भंडार में आ गये । अरबों ने हमारे 'हिन्द से' लिये तो ताजिक, मुथहा, इत्थशाल आदि दे भी गये । कश्मीरी कवियों को प्रेम के अर्थ में हेवाक दे गये । मुसलमान आये तो सुलतान का सुरत्राण, अमीर का हम्मीर, मुगल का मुङ्गल, मसजिद का मसीतिः कई शब्द आ गये । लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान अब एक हो रहा है, हम कहते हैं कि पहले एक था अब बिखर रहा है । काशी की नागरी प्रचारिणी सभा वैज्ञानिक परिभाषा का कोष बनाती है । उसी की नाक के नीचे बाबू लक्ष्मीचन्द वैज्ञानिक पुस्तकों में नई परिभाषा काम में लाते हैं, पिछवाड़े में प्रयाग की विज्ञान परिषद् और ही शब्द गढ़ती है । मुसलमान आये तो कौन सी बाबू श्यामासुन्दर की कमिटी बैठी थी कि सुलतान को सुरत्राण कहो और मुगल को मुङ्गल ? तो भी कश्मीरी कवि या गुजराती कवि या राजपूताने के पण्डित सब सुरत्राण कहने लग गये । एकता तब थी कि अब ?

बौद्ध हमारे यहीं से निकले थे, उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे, उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा, हम तो देवानां प्रिय मूर्ख को कहा करते थे, उन्होंने पुण्यश्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगाकर इसे पवित्र कर दिया । हम निर्वाण के माने दिये का बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया, अवदान का अर्थ परम सात्विक दान भी उन्होंने किया ।

बकौल शेक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है । आर्यसमाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता, हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया, औरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, इन्होंने अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिये इसी से कहते हैं कि मारेसि मोहि कुठाउँ, अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से ले लिये हैं कि इस पुरानी जमी हुई दुकान का दिवाला निकल गया ! ! लेने के देने पड़ गये ! ! !

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, हिन्दू कहते हैं, जैसे परशुराम के भय से क्षत्रियकुमार माता के लहंगों में छिपाये जाते थे वैसे विदेशी शब्द हिन्दू की शरण लेना पड़ती है और आर्यसमाज पुकार-पुकारकर जले पर नमक छिड़कता है कि हैं ! क्या करते हो ? हिन्दू माने काला, चोर, काफ़िर ! ! अरे भाई ! कहीं बसने भी दोगे ? हमारी मंडलियाँ भले 'सभा' कहलावें,

'समाज' नहीं कहला सकतीं ? न आर्य रहे न समाज रहा तो क्या अनार्य कहें और समज कहें (समज पशुओं का टोला होता है)? हमारी सभाओं के पति या उपपति (गुस्ताखी माफ, उपसभापति से मुराद है) हो जावें किंतु प्रधान या उपप्रधान नहीं कहा सके ? हमारा धर्म वैदिक धर्म नहीं कहलायेगा, उसका नाम रह गया है – सनातम धर्म, हम हवन नहीं कर सकते, होम करते हैं, हमारे संस्कारों की विधि संस्कार विधि नहीं रही । वह पद्धति (पैर पीटना) रह गई, उनके समाज-मन्दिर होते हैं, हमारे सभाभवन होते हैं । और तो क्या, 'नमस्ते' का वैदिक फ़िकरा हाथ से गया –'चाहे जय रामजी कह लो, चाहे जय श्रीकृष्ण, नमस्ते मत कह बैठना । ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है, कहते हैं कि यह पहले पहल ब्रह्मा का कण्ठ फाड़कर निकला था । (प्रत्येक मंगल कार्य के आरम्भ में हिन्दू 'श्रीगणेशाय नमः' कहते हैं । अभी इस बात का श्रीगणेश हुआ है – इस मुहावरे का अर्थ है कि अभी आरम्भ हुआ है । एक वैश्य यजमान के यहाँ मृत्यु हो जाने पर पण्डित जी गरुड़पुराण की कथा कहने गये । आरम्भ किया श्रीगणेशाय नमः । सेठ जी चिल्ला उठे– वाह महाराज, हमारे यहाँ तो यह बीत रहा है और आप कहते हैं कि श्रीगणेशाय नमः, माफ़ करो । जब से चाल चल गई है कि गरुड़पुराण की कथा में 'श्रीगणेशाय नमः' नहीं कहते । 'श्रीकृष्णाय नमः' कहते हैं) उसी तरह अब सनातनी हिन्दुओं ने बोल सकते हैं, न लिख सकते हैं, सन्ध्या या यज्ञ करने पर जोर नहीं देते, श्रीमद्‌भागवत की कथा या ब्राह्मण-भोजन पर सन्तोष करते हैं ।

और तो और, आर्यसमाज ने तो हमें झूठ बोलने पर लाचार किया, यों हम लिल्लाही झूठ न बोलते, पर क्या करें । इश्कबाज़ी और लड़ाई में सब कुछ जायज़ है । हिरण्यगर्भ के माने सोने की कौंधनी पहने हुए कृष्णचंद्र करना पड़ता है, चत्वारि शृंगावाले मंत्र का अर्थ मुरली करना पड़ता है, 'अष्टवर्षोऽष्टवर्षो वा' में अष्ट च अष्ट च एक शेष करना पड़ता है, शतपथ ब्राह्मण के महावीर नामक कपालों को मूर्तियां बनाना पड़ते हैं । नाम तो रह गया हिन्दू । तुम चिढ़ाते हो कि इसके माने होते हैं काला, चोर या काफ़िर । अब क्या करेंगे ? कभी तो इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि हि इन्दु । कभी मेरु तंत्र का सहारा लेते हैं कि हीन च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिय ।[1] यह उमामहेश्वर संवाद है, कभी सुभाषित के श्लोक 'हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्'[2] को पुराना कहते हैं और यह उड़ा जाते हैं कि उसी के पहले 'यवनैरवनिः क्रान्ता'[3] भी कहा है, कभी महाराज कश्मीर के पुस्तकालय में कालिदास रचित 'विक्रम महाकाव्य' में 'हिन्दपति पाल्यताम्' पद प्रथम श्लोक में मानना पड़ता है । इसके लिए महाराज कश्मीर के पुस्तकालय की कल्पना कि जिसका सूचीपत्र डाक्टर स्टाइन ने बनाया हो, वहाँ पर कालिदास के कल्पित काव्य की कल्पना, कालिदास के विक्रम संवत् चलाने वाले विक्रम के यहाँ होने की कल्पना तथा यवनों से अस्पृष्ट (यवन माने मुसलमान ! भला, यूनानी नहीं) समय में हिन्दूपद के प्रयोग की कल्पना ! कितना दुःख तुम्हारे कारण उठाना पड़ता है ! !

1. हे प्रिये ! जो हीनता-नीचता से द्वेष करे, वही हिन्दू है ।
2. हिन्दू विंध्य पर्वत में घुस आये ।
3. यवनों द्वारा पृथ्वी आक्रांत हुई ।

बाबा दयानन्द ने चरक के एक प्रसिद्ध श्लोक का हवाला दिया कि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में पच्चीस वर्ष से कम पुरुष का गर्भ रहे तो या तो वह गर्भ में ही मर जाय, या चिरजीवी न हो, या दुर्बलेन्द्रिय होकर जीवे। हम समझ गये कि यह हमारे बलिका-विवाह की जड़ कटी – नहीं, बालिकारभस पर कुठार चला। अब क्या करें। चरक कोई धर्मग्रन्थ तो है नहीं कि जोड़ की दूसरी स्मृति में से दूसरा वाक्य तुर्की-बतुर्की जवाब में दे दिया जाय। धर्मग्रन्थ नहीं है, आयुर्वेद का ग्रन्थ है, इसलिए उसके चिरकाल न जीने या दुर्बलेन्द्रिय होकर जीने की बात का मान भी कुछ अधिक हुआ। यों चाहे मान भी लेते – और व्यवहार में मानते ही हैं – पर बाबा दयानन्द ने कहा तो उसकी तरदीद भी होनी चाहिए। एक मुरादाबादी पण्डितजी लिखते हैं कि हमारे पड़दादा के पुस्तकालय में जो चरक की पोथी है उसमें पाठ है – ऊन द्वादशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।[1]

लीजिए चरक तो बारह वर्ष पर ही 'एज ऑफ कन्सेंट बिल' देता है, बाबाजी क्यों सोलह कहते हैं? चरक की छपी पोथियों में कहीं यह पाठ न मूल में है न पाठान्तरों में। न हुआ करे – हमारे पड़दादा की पोथी में तो है!

इसीलिए आर्यसमाज से कहते हैं कि 'मारेसि मोहिं कुठाउँ'।

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : सितम्बर, 1920 ई.)

---

1. बारह वर्ष से कम की कन्या और पच्चीस से कम का वर।

19

धर्म और समाज

समाज के लिये धर्म की आवश्यकता है या नहीं ? इस प्रश्न पर कुछ अपने विचार प्रकट करना ही आज इस लेख का उद्देश्य है। प्राचीन और नवीन अथवा पूर्व और पश्चिम इन दोनों के संघर्ष से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। पूर्वी सभ्यता सदा से धर्म की पक्षपातिनी रही है और उसने धर्म को समाज में सबसे ऊँचा स्थान दिया है। पश्चिमी सभ्यता इस समय चाहे उसकी विरोधिनी न हो, पर उससे उदासीन अवश्य है और कम-से-कम समाज की उन्नति के लिये वह उसे आवश्यक नहीं समझती। उसकी सम्मति में बिना धर्म का आश्रय लिये भी नैतिक बल के सहारे मनुष्य अपनी वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति कर सकते हैं।

यद्यपि पहले पश्चिम भी धर्म का ऐसा ही अनन्य भक्त था जैसा कि इस समय भारतवर्ष। पर मध्यकाल में कई शताब्दी तक वहाँ धर्म के कारण बड़ी अशांति मची रही। धर्ममद से उन्मत्त होकर समाज ने बड़े-बड़े विद्वानों और संशोधकों के साथ वह सलूक किया जो लुटेरे मालदारों के साथ करते हैं। 50 वर्ष तक लगातार जारी रहने वाला यूरोप का धर्मयुद्ध प्रसिद्ध ही है। इस्लाम ने जो सलूक ईसाइयों के साथ किया उसको जाने दीजिए, क्योंकि वह एक भिन्न धर्म था। ईसाई धर्म की ही दो शाखाओं ने, जिसका नाम कैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट है, एक-दूसरे के साथ जैसे-जैसे अत्याचार और अमानुषिक बर्ताव किये हैं, उन पर अब तक यूरोप का इतिहास रुधिर के आँसू बहा रहा है। इसलिये अब इस सभ्यता और उन्नति के युग में पश्चिम निवासियों को यदि धर्म पर वह श्रद्धा नहीं है जो उनके पूर्वजों की थी तो वह सकारण है। यद्यपि पूर्वापेक्षा अब उनके धर्म का भी बहुत कुछ संस्कार हो गया है और शिक्षा की उन्नति के साथ-साथ, जिसमें यूरोप और अमेरिका ने सबसे अधिक भाग लिया है, उनके धर्म में भी सहिष्णुता, स्वतन्त्रता और उदारता की मात्रा बढ़ गई है, तथापि धर्मवाद के परिणामस्वरूप जो कड़वे फल उनको चखने पड़े हैं, उन्होंने उनको धर्म की सीमा नियत कर देने के लिये बाधित किया, तदनुसार उन्होंने धर्म की अबाध सत्ता से अपने समाज को मुक्त कर दिया। अब वहाँ यही नहीं कि समाज की शासन सत्ता में धर्म कुछ विक्षेप नहीं डाल सकता, किन्तु व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक प्रबन्ध में भी कुछ हस्तक्षेप नहीं कर सकता और बहुत-सी बातों के समान धर्म भी एक व्यक्तिगत बात मानी जाती है, जिसका जी चाहे, किसी धर्म को माने, न चाहे न माने। मानने से कोई विशेष स्वत्व पैदा नहीं होते, न मानने से कोई हानि नहीं होती।

यह तो रही पश्चिम की धार्मिक अवस्था, अब रहा पूर्व। यद्यपि पूर्व में सर्वत्र ही धर्म का प्राधान्य है तथापि भारतवर्ष में तो उसका एकाधिपत्य राज्य है। यद्यपि वहाँ की शासन सत्ता

पश्चिमी लोगों के हाथ में होने से अब उसमें वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता, तथापि भारतीय समाजों में और उनकी विविध शाखाओं में उसका अप्रतिबन्ध अधिकार है । हम जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त चाहे किसी दशा में रहें, कुछ करें, धार्मिक बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते ।

हमको केवल अपने पूजा-पाठ या संस्कारों में ही धर्म की आवश्यकता नहीं, किन्तु हमारा काम चाहे वह सामाजिक हो या व्यक्तिगत, धर्म के बन्धन से जकड़ा हुआ है । यहाँ तक कि हमारा खाना-पीना, जाना-आना, सोना, जागना और देना-लेना इत्यादि सभी बातों में धर्म की छाप लगी हुई है । हम हिन्दू होकर सब कुछ छोड़ सकते हैं पर धर्म को किसी अवस्था में नहीं छोड़ सकते । हमारे पूर्वज धर्म को ही अपना जीवनसर्वस्व मानते थे और यही उपदेश शास्त्रों में वे हमको भी कर गये हैं । मनु लिखता है –

धर्मएव हतो हन्ति धर्मोरक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानोधर्मो हतोऽवधीत् ।।

प्राचीन आर्य लोग धर्म को केवल परलोक का ही साधन नहीं मानते थे, किन्तु इस लोक का बड़े-से-बड़ा सुख भी धर्म के बिना उनकी दृष्टि में हेय था । त्रिवर्ग में जिसका सम्बन्ध संसार से है, धर्म ही सबसे पहला और मुख्य माना गया है । कणाद तो अपने वैशेषिक दर्शन में अभ्युदय की नींव भी धर्म पर रखता है । यथा –

यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धिः सधर्मः ।

अतएव हम अपने शास्त्रों को मानते हुए और पूर्वजों पर श्रद्धा रखते हुए किसी दशा में धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकते ।

पश्चिम की शिक्षा का प्रभाव जिन लोगों पर पड़ा है, वे चाहे हमारे स्वदेशी बान्धव ही क्यों न हों, हमको भी यह सलाह देते हैं कि हम भी यदि इस जातीय उन्नति की दौड़ में भाग लेना चाहते हैं तो धर्म की कोई ऐसी सीमा नियत कर दें, जिससे आगे यह अपने पैर न फैला सके । उनका यह कथन है कि जब तक हमारे हर एक काम में धर्म का पचड़ा लगा हुआ है, हम समय की गति के साथ नहीं चल सकते और न अपना कोई जातीय आदर्श बना सकते हैं । जो लोग हमको यह सलाह देते हैं, हम उनके सद्भाव में कोई सन्देह नहीं कर सकते और यह भी हम मानते हैं कि देशहित की प्रेरणा से ही वे यह सलाह हमको देते हैं । पर हाँ, यह हम अवश्य कहेंगे कि वर्तमान धार्मिक अवस्था के विकृत स्वरूप को देखकर और हमारे धर्म के वास्तविक तत्व पर गम्भीर दृष्टि न डालकर ही यह सम्मति दी जाती है । यदि धर्म को उनके वास्तविक रूप में देखा जाय तो वह कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकता । यद्यपि विदेशियों के संसर्ग से या हमारे दौर्भाग्य से यहाँ भी धर्म का विधेय वह नहीं रहा, जो प्राचीन काल में था । हमें यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं है कि सभ्यता के आदि गुरु आर्यों का धर्म मतवाद से सर्वथा पृथक है ।

इस मतवाद को धर्म समझने का यूरोप में यह परिणाम हुआ कि वह राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र से ही अलग नहीं किया गया, किन्तु मानसिक और नैतिक उच्चभावों की रीति के लिये भी अनावश्यक समझा गया । उसका सम्बन्ध केरल उपासनालयों से रह गया और

वह भी रविवार के दिन घंटे-दो घंटे के लिये। बहुत से स्वतन्त्रता देवी के उपासक तो इससे भी मुक्त हो गये। हम उनकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करते हैं, यदि वे ऐसा न करते और हमारी तरह से अपनी विचारशक्ति को कल्पनाशक्ति के अधीन कर देते तो आज उनके देश में विद्या और बुद्धि का विकास, कला-कौशल की यह उन्नति और उद्योग तथा व्यवसाय का यह प्रभाव देखने में न आता। यदि हमारे धर्म की भी ऐसी ही अवस्था हो और वह वास्तव में मतवाद का प्रवर्त्तक हो, तब तो हमको भी कृतज्ञता के साथ उनकी यह सलाह मान लेनी चाहिए और यदि ऐसा नहीं है तो हमें धर्म का वास्तविक तत्व उन्हें समझाना चाहिए।

हम यहाँ पर कह देना चाहते हैं कि मत या सम्प्रदाय के अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग करना भी हमने अधिकतर विदेशियों ही से सीखा है, जब विदेशी भाषाओं के 'मज़हब', 'रिलीजन' शब्द यहाँ प्रचलित हुए, तब भूल से या स्पर्धा से हम उनके स्थान में 'धर्म' शब्द का प्रयोग करने लगे। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रन्थों में, जो विदेशियों के आने के पूर्व रचे गये थे, कहीं पर भी 'धर्म' शब्द मत, विश्वास या सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, प्रत्युत उनमें सर्वत्र स्वभाव और कर्त्तव्य इन दो ही अर्थों में इसका प्रयोग पाया जाता है। प्रत्येक पदार्थ में उसकी जो सत्ता है, जिसको 'स्वभाव' भी कहते हैं, वही उसका धर्म है। जैसे वृक्ष का धर्म 'जड़ता' और पशु का धर्म 'पशुता' कहलाती है, ऐसे ही मनुष्य का धर्म 'मनुष्यता' है। वह मनुष्यता किस वस्तु पर अवलम्बित है। इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता कि मनुष्यता का आधार बुद्धि है। बुद्धि की दो शाखाएं हैं, एक कल्पनाशक्ति, दूसरी विचारशक्ति। कल्पनाशक्ति सन्देहात्मक और विचारशक्ति निर्णयात्मक। बिना सन्देह के किसी बात का निर्णय नहीं हो सकता। अतएव अपनी कल्पनाशक्ति से सन्देह उठाकर पुनः विचारशक्ति से उसका निर्णय करने में जो समर्थ है, वही मनुष्य है। संसार में सिवाय असभ्य और वन्य लोगों के और कौन ऐसा मनुष्य होगा, जिसको ऐसे धर्म की आवश्यकता न होगी, जो उसको मनुष्य बनाता है।

यह तो हुआ सामान्य धर्म, अब रहा विशेष धर्म, इसी का दूसरा नाम कर्त्तव्य भी है। मनुष्य चाहे किसी दशा में हो, उसका कुछ-न-कुछ कर्त्तव्य होता है। यदि राजा राजधर्म का, प्रजा प्रजाधर्म का, स्वामी प्रभुधर्म का, सेवक सेवाधर्म का, पिता पितृधर्म का, पुत्र पुत्रधर्म का, पति पतिधर्म का, स्त्री स्त्रीधर्म का, गृहस्थ गृहस्थधर्म का और यति यतिधर्म का साधन न करें तो फिर संसार में कोई मर्यादा रहे, न व्यवस्था। संसार में शान्ति और व्यवस्था तभी रह सकती है, जब प्रत्येक मनुष्य कर्त्तव्य के अनुरोध से अपने-अपने धर्म का पालन करें। अतएव इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं कि धर्म ही संसार की प्रतिष्ठा का कारण है। धर्म के इसी महत्व को लक्ष्य में रखकर 'तैत्तिरीयारण्यक' में यह कहा गया है –

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति
धर्मेण पापमपतुदन्ति धर्मे सर्व प्रतिष्ठितम् ॥

अब हम कुछ प्रमाण भी जिनमें 'धर्म' शब्द प्रस्तुत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उद्धृत करते हैं। 'महाभारत' में धर्म का निर्वचन इस प्रकार किया गया है –

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मेण विधृताः प्रजाः।

यःस्याद्धारणसंयुक्तः सधर्म इति निश्चयः ॥

धात्वर्थ में भी इसी की पुष्टि होती है, क्योंकि 'धृ' धातु धारण के अर्थ में है ।

योध्रियते दधाति वा सद्धर्मः ।

जो धारण किया हुआ प्रत्येक पदार्थ को धारण करता है, वह धर्म है । अग्नि में यदि उसका धर्म तेज न रहे फिर कोई उसे 'अग्नि' नहीं कहता, ऐसे ही मनुष्य यदि अपने धर्म को त्याग दे तो फिर केवल आकृति और बनावट उसकी मनुष्यता की रक्षा नहीं कर सकती । उपनिषदों में, जहाँ धर्मंचर, 'धर्मान्नप्रमदितव्यम्' इत्यादि वाक्य आते हैं, वहाँ भी इससे कर्त्तव्य या सदाचार का ही ग्रहण होता है । मनु ने धर्म के धृत्यादि जो दस लक्षण बतलाये हैं और जिनको धारण करके एक नास्तिक भी धर्मात्मा बन सकता है, उनमें मतवाद का गन्ध तक नहीं है । गीता में भी –

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठिनात् ।

इत्यादि वाक्यों में 'धर्म' शब्द कर्त्तव्य का ही सूचक है, क्योंकि मनुष्य के लिये प्रत्येक दशा में अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही सर्वोपरि धर्म है, अपने कर्त्तव्य से उदासीन होकर दूसरों का अनुकरण करना, चाहे वे अपने से श्रेष्ठ भी हों, अनधिकार चर्चा है । जब मनुष्य के आचार या कर्त्तव्य का नाम धर्म है, तब यदि हमारे पूजनीय पूर्वजों ने उसकी मनुष्य की प्रत्येक दशा से (चाहे वह आत्मिक हो या सामाजिक या वैयक्तिक) सम्बन्ध किया तो इससे उनका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता था कि उन्होंने हमको मतवाद के जाल में फँसाने के लिये धर्म की टट्टी खड़ी की । उन्होंने तो हमारे मनुष्यत्व की रक्षा के लिये ही प्रत्येक कार्य में इसका आयोजन किया था ।

अब प्रश्न यह होता है कि जब धर्म मत से पृथक् है तो फिर मतवाद में या भ्रमात्मक विश्वासों में उसका पर्यवसान क्योंकर हुआ ? इसका कारण चाहे कुछ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि हमारे दौर्भाग्य से इस समय हमारी धार्मिक अवस्था वह नहीं है, जो उपनिषदों और दर्शनों के समय थी । उस समय सैद्धान्तिक भेद भी हमारे धर्म को कुछ हानि नहीं पहुँचा सकता था, पर आजकल आंशिक भेद को भी हमारा कोमल धर्म सहन नहीं कर सकता । उस समय हिन्दू धर्म इतना उदार था कि वह बौद्ध और जैन जैसे निरीश्वरवादी मतों को भी अपने क्रोड़ में स्थान दे सकता था, पर आजकल का हिन्दू धर्म साकारवादी और निराकारवादियों को मिलकर नहीं रहने देता । पहले का हिन्दू धर्म सदाचारी को धर्मात्मा और ज्ञानी को मोक्ष का अधिकारी (चाहे वह कोई हो) मानता था, पर आजकल का हिन्दू धर्म अपने लक्ष्य से ही च्युत होकर या तो मतमतान्तर के शुष्कवाद विवाद में या पुरानी लकीर को पीटने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है । संसार के और समस्त विषयों में हम विचारशक्ति का उपयोग कर सकते हैं, पर केवल धर्म ही एक ऐसा सुरक्षित विषय है कि जिसमें आँखें बन्द करके दूसरों के पीछे चलना चाहिए । यदि इसकी कोई सीमा नियत होती, तब भी गनीमत थी, पर अब इस दशा में जबकि इसकी अबाध सत्ता है, कोई भी विषय हमारे लिये ऐसा नहीं रह जाता, जिसमें हम स्वच्छन्द विचरण कर सकें । धर्म के नाम से अब तक हमारे समाज में जैसे-जैसे अनर्थ और अत्याचार

हो रहे हैं, उनके कारण हमारे करोड़ों भाई और बहन मनुष्य होते हुए पशु-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस बीसवीं सदी में जबकि अन्य देशवासी राष्ट्र ही नहीं किन्तु राष्ट्रसंघ और साम्राज्य की स्थापना कर रहे हैं, भारतवर्ष यदि समाज संगठन के भी अयोग्य है तो उसका कारण भ्रमात्मक संस्कार ही हैं।

हम मानते हैं कि जैसा धर्म का दुरुपयोग आजकल भारतवर्ष में हो रहा है, और ऐसा कहीं देखने में न आवेगा। परन्तु अब प्रश्न यह है कि धर्म का प्रयोग अन्यथा किया जा रहा है, क्या इसलिये हम धर्म को ही छोड़ दें ? यदि कोई मनुष्य अपनी मूर्खता से अग्नि में हाथ जला लेता है तो क्या उसे यह उपदेश करना ठीक होगा कि वह अग्नि से कभी कोई काम न ले या कि उसे अग्नि से काम लेने की तरकीब सिखाना ठीक होगा। इसका उत्तर प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य यही देगा कि दूसरी बात ही होनी चाहिए।

यद्यपि आधुनिक शिक्षा और समय के प्रभाव से आजकल धार्मिक क्षेत्र में भी असन्तोष और हलचल मची हुई है और प्रत्येक धर्म के अग्रणी और शिक्षित पुरुष यह अनुभव करने लगे हैं कि अब बीसवीं शताब्दी की जनता को इस प्रकाश के युग में केवल धर्म के नाम से रूढ़ि का दास नहीं बनाया जा सकता और न इस बढ़ते हुए हेतुवाद के प्रवाह को ही रोका जा सकता है। तथापि वे –

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म संगिनाम्।

इस नीति का अनुसरण करते हुए धर्म के विषय में स्पष्टवादिता से काम नहीं ले सकते। इतना ही नहीं, बहुत से शिक्षित ऐसे भी मिलेंगे जो अपने समाज को प्रसन्न करने के लिये या उसका विश्वासभाजन बनने के लिये उसके भ्रमात्मक विश्वासों पर तर्क और विज्ञान की कलई चढ़ाने लगते हैं। जिस देश में नैतिक बल की यह दुर्दशा हो और जहाँ मान के भूखे शिक्षित लोग अशिक्षितों से मानभिक्षा की याचना करें, वहाँ यदि धर्म का ऐसा दुरुपयोग हो रहा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? परन्तु प्रश्न ये है, जब तक धर्म के सूर्य में अन्धविश्वास का यह ग्रहण लगा हुआ है, क्या हम अपने उद्देश्य और लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं ? हमारे देश के नेता राजनैतिक स्वतंत्रता के लिये तो फड़फड़ा रहे हैं, पर यह धार्मिक परतन्त्रता जो हमें खुली हवा में साँस भी नहीं लेने देती, उनकी दृष्टि में जरा भी नहीं खटकती। क्या इसीलिये कि यह फाँसी हमने अपने आप लगाई है इसकी मौत मीठी है ?

हमारा वक्तव्य केवल यह है कि यदि धर्म हमारे स्वभाव या कर्त्तव्य का बोधक है, जैसा कि हम अपना अभिप्राय प्रकट कर चुके हैं, तब तो वह हमसे और हम उससे किसी दशा में भी पृथक् नहीं हो सकते। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता उसके धर्म पर अवलम्बित होती है और ऐसे धर्म की आवश्यकता न केवल समाज को है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को है। जहाँ राष्ट्र या समाज अपने उस स्वाभाविक धर्म का पालन करें, वहाँ कोई व्यक्ति भी उसकी उपेक्षा न करे। इस दशा से धर्म की व्यापकता या अबाध सत्ता किसी को अवांछनीय नहीं हो सकती और यदि यह हमारा भ्रम है और वास्तव में धर्म का अभिधेय जैसा कि आजकल माना जा रहा है, मतमतान्तर के काल्पनिक सिद्धान्त और भ्रमात्मक विश्वास हैं तो हम निःसंकोच अपने

देशवासियों से यह प्रार्थना करेंगे कि जिस प्रकार पश्चिमवासियों ने धर्म की सीमा नियत करके अपने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रों से उसका प्रतिबन्ध हटा दिया है, ऐसा ही हमको भी करना चाहिए, अन्यथा ये भ्रमात्मक विश्वास अपने साथ हमको भी ले डूबेंगे – आप डूबन्ते बामना ले डूबे जजमान।

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जून, 1920 ई.)

20

वर्ण-विषयक कतिपय विचार

कुछ दिन हुए विदेश में मेरे एक बन्धु के साथ (जो हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि हैं) मैं सब्जी-मण्डी में घूम रहा था। 'पताल' (जिसका रंग लाल होता है और जिसे अंगरेजी में 'tomato' कहते हैं और जिसको छत्तीसगढ़ी ब्राह्मण निषिद्ध समझते हैं) नामी फल को देखकर मैंने उनके विचार जानने के लिए कुतूहलतावश पूछा –

"चलो, आज इसकी तरकारी बनावें।" मेरा वाक्य समाप्त होते-न-होते ही वे चिल्ला उठे, "छि: छि: शोक ! तुम समाज का सुधार करने चले हो और तुम्हारी ऐसी कृतियाँ !" इतना सुनते ही मैं हँसने लगा। उनके उद्‌गार पर मुझे बड़ी प्रसन्नता और हँसी छूटी। मैंने पूछा, "इस तुच्छ विषय से सुधार के प्रति अपनी राय आप कैसे दे सकते हैं ? इसे खा लेने पर क्या मेरी मति भ्रष्ट हो जायेगी ?" उन्होंने कहा, "क्या इसी तरह तुम सुधरे हुए का असुधार करोगे ? क्या तुमको मालूम नहीं कि यह निषिद्ध फल है ?" वादविवाद में यह प्रकट हुआ कि इससे शारीरिक या मानसिक क्षति होती है। मैंने कहा कि यह तो नितान्त असम्भव है क्योंकि भारत के अन्य कई भागों में इसे खाते हैं। थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि भारत के समस्त ब्राह्मण नहीं खाते तो जो भी लोग खाते हैं, उनका शरीर बलिष्ठ क्यों है ? उनकी मानसिक क्षति क्यों नहीं होती ? वे बोले – "ब्राह्मणों के लिए इस फल का उपयोग उचित नहीं।" क्यों ? ब्राह्मण तो इसे खाते हैं ?

मित्र – खाते हों, परन्तु शास्त्र में इसका निषेध है। ऐसी कुवस्तुओं को खाने से आचार-विचार में मलिनता आ जाती है।

मैं – माना, हमने कि सरयूपारीण (छत्तीसगढ़ के) इसे नहीं खाते परन्तु कान्यकुब्ज तो खाते हैं, जिनका आचार-विचार हमारे आचारों से बढ़ा-चढ़ा है। इस पर मैंने एक-दो उदाहरण भी दिये।

अनन्तर अपनी रक्षा के लिए उन्होंने 'रुचि' को प्रधान बनाया। मैंने भी कहा कि अवश्य ख़ाना और पीना अपनी रुचि पर है, इसलिए खानेवालों को असुधारक मानना ठीक नहीं। सच पूछा जाय तो वही सुधारक है क्योंकि अन्धपरम्परा को नष्ट कर वह मूल सत्य को ग्रहण करने का पाठ पढ़ाता है।

अनन्तर वर्ण-व्यवस्था की चर्चा छिड़ी। उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों को अन्य जाति का बनाया हुआ भोजन न करना चाहिए अथवा किसी का छुआ हुआ पानी न पीना चाहिए क्योंकि वर्ण-विभाग वैज्ञानिक विचारों पर निर्भर है। इससे शरीर की हानि होती है। ब्राह्मण सर्वोत्कृष्ट

जाति है। ये प्रश्न बड़े महत्व के हैं और इन्हीं पर कुछ प्रकाश डालना इस लेख का एकमात्र उद्देश्य है। इसके लिए हमें यह जानना चाहिए कि वैदिककाल में वर्ण-विभाग था या नहीं? या यह अभी हाल ही का है?

वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था अवश्य थी, परन्तु वर्तमान रूप में नहीं। उस समय मुख्यतः केवल चार जातियां ही थीं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसका प्रमाण यह है –

ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् बाहुराजन्य कृतः,
उरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्याम् शूद्रो अजाततः।[1]

इससे यह स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था का आदि कारण कार्य-निर्वाचन है। यद्यपि वेद का उपर्युक्त कथन कतिपय मनुष्यों को नीरस और मिथ्या मालूम हो, परन्तु इसकी सत्यता का प्रमाण वर्तमान युग ही है। पाश्चात्य देशों को अब इसकी जरूरत दिखाई देने लगी है। वर्ण– व्यवस्था के न होने से वहाँ के राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में महाक्रान्ति उपस्थित है। वर्ण– व्यवस्था से अधिकारों का बँटवारा भलीभाँति हो जाता है और यह सब कोई अपने उचित अधिकारों को प्राप्त कर सुचारु रूप से कार्य करते हैं।

यूरोप में बोलशेविक दल धनी-गरीब, राजा-प्रजा सबको एक कर देना चाहता है। वह सबको समान अधिकार देना चाहता है। उसका मत है कि कोई किसी का दास होकर न रहे, परन्तु प्रश्न यह है कि यदि मजदूर ही न हों तो कारखानों का काम करेगा कौन? हमारे जूठे बर्तन कौन मलेगा? इसके उत्तर में प्रथम यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य अपना-अपना काम कर ले। यदि यह भी हो जाय तो कोई बुरी बात नहीं, परन्तु इससे सहकारिता नष्ट होकर स्वार्थपरायणता आ जावेगी। हमारी उन्नति में वह बाधक है अतः वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता है।

इस व्यवस्था के मुख्य दो कारण हैं 'जन्मना' और 'कर्मणा'। 'जन्मना' से यह अर्थ निकलता है कि पिता का धन पुत्र को मिले या उसके कोई नातेदार को और 'कर्मणा' का यह अर्थ है कि वह अपनी इच्छा और शक्तियों को देखकर किसी कार्य द्वारा अपना जीवन निर्वाह कर ले।

वर्ण की व्यवस्था करने के समय 'जन्मना' की अपेक्षा 'कर्मणा' पर अधिक जोर दिया

---

1. (क) सन्दर्भ : पुरुषसूक्तम्: ऋग्वेद : 10 ।90 ।10

(ख) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽअजायत ॥11॥

– शुक्ल यजुर्वेदानुसार

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥
अथर्व. १९/६/६

(ग) अनुवाद – उसका मुख वही ब्राह्मण हो गया (इस पुरुष के मुख से ब्राह्मण हुए), उसी भुजाएँ राजन्य (क्षत्रिय) बनाई गईं (बाहुओं से क्षत्रिय हुए)। जो वैश्य होकर उत्पन्न हुआ वे उसकी जांघे थीं (इस पुरुष के जो दोनों उरू हैं उनसे वैश्य) और उसके पादों से शूद्र उत्पन्न हुए (पैरों से शूद्र प्रकट हुए)।

– सम्पादक

गया था। लोग प्रधानतः उसी का अवलम्बन करते थे। विश्वामित्र का ब्राह्मण होना इसका यथेष्ट प्रमाण है। फिर 'जन्मना' न हो तो क्या होगा। यही कि हम में ईर्ष्या, द्वेष, लालच आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जायेंगे क्योंकि 'जन्मना' या (ला आफ़ हेरिडिटरी) न होने से किसी व्यक्ति या परिवार की अधिक सम्पत्ति देखकर दूसरा व्यक्ति या परिवार उस पर अधिकार जमावेगा। पिता का धन पुत्र को न मिलकर और किसी के हाथ जाने लगेगा और सच्चा अधिकारी अधिकार छीननेवाले से युद्ध ठानेगा। इस तरह राष्ट्र विप्लव और क्रान्ति का घर हो जायेगा अतः 'जन्मना' की आवश्यकता वर्ण-व्यवस्था में अनिवार्य है।

अब 'कर्मणा' को लीजिए। यदि यह न हो तो क्या होगा? यदि सबके-सब अपने-अपने कार्य स्वयं कर लें तो क्या काम न चलेगा? क्या यह न रहे तो स्वार्थ की आग धधक उठेगी? ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण हर किसी में नजर आयेंगे क्योंकि फिर 'सहयोगिता' का नाम संसार से उठ जायेगा। बड़ी-बड़ी उन्नति, बड़े-बड़े कार्य, जिनकी आवश्यकता प्रत्येक राष्ट्र जाति या व्यक्ति को है, न हो पायेंगे। उन्नति और परिवर्तन रुक जायेगा। 'जन्मना' से 'कर्मणा' प्रधान है और दोनों के संयोग से राष्ट्र का काम भलीभाँति चल सकता है।

परन्तु वर्तमान भारत में 'जन्मना' अधिक वन्दनीय है। इससे किसी को फायदा नहीं। यूरोप में तो वर्ण-व्यवस्था के न होने से अमीर को लाभ है, परन्तु यहाँ वर्ण-व्यवस्था के होते हुए भी न अमीर को लाभ है और न गरीब को। इसके विपरीत फायदा है किसी अन्य राष्ट्र को क्योंकि भारत में इस समय पश्चिमीय का अन्तरंग नहीं तो बहिरंग प्रभाव है। यह बहिरंग सभ्यता अंगरेजी पढ़े-लिखे मनुष्यों में ही नहीं, परन्तु बेपढ़े-लिखे और पुरानी शिक्षा पाये हुए हमारे भोले-भाले पण्डितों में भी पाई जाती है क्योंकि आजकल यही मान मिलने का साधन हो गई है।

इस सभ्यता को पूर्ण करने के लिए गरीबों का गला घोंटा जाता और नित नये-नये छलछिद्रों का जन्म होता है। यूरोपीय मजदूरों का दल इस कारण निर्धन हो गया है। यहाँ के लोगों ने मदिरा-पान जैसी व्यर्थ चीजों में अधिक खर्च कर गरीबों का ग्रास छीन लिया है। फैशन से यूरोप में केवल मजदूर-दल ही की हानि हुई और धनी मालदार हो गये, परन्तु भारत में अमीर और गरीब दोनों दल ही आर्थिक हानि सहते हैं।

भारत में 'जन्मना' का प्रभाव अब अधिक होने से कई कुरीतियाँ दृष्टिगोचर होने लगी हैं। छूत-अछूत इसी का परिणाम है। इससे जाना जाता है कि अब भारत से उस आन्तरिक आत्मा का ज्ञान जाता रहा, जिसकी समम्प्त संसार में आवश्यकता है। इससे पारस्परिक सहयोगिता नष्ट हो गई क्योंकि एक को अभिमान करते देखकर दूसरा अभिमान करने लगा है। उन जातियों को छोड़कर जिनसे हमारा धार्मिक सम्बन्ध है, जैसे नाऊ, धोबी, कहार आदि शायद और कोई दूसरी जाति नहीं जो ब्राह्मणों का भी पकाया हुआ भोजन खाती हो। इन जातियों में एक धांगर जाति भी है, जो पालकी उठाती है। ये लोग ब्राह्मण के यहाँ भोजन नहीं ग्रहण करते। ऐसी अवस्था में उनमें शुद्ध प्रेम का होना कहाँ तक सम्भव है?

यदि आत्मा शुद्ध हो तो समय आ पड़ने पर नीची जाति का बनाया हुआ भोजन ग्रहण

करना भी योग्य है और यदि आत्मा शुद्ध नहीं तो उसे शुद्ध बना लेना चाहिए।

आचार-विचार करने वाले अधिकतर मनुष्य शंकित होते हैं और उनकी आत्मा दुर्बल हुआ करती है। हाँ, आचार-विचार से अवश्य मनःशुद्धि होती है परन्तु मनःशुद्ध करने वाले आचार-विचार कुछ दूसरे ही हैं। वे हैं ईश्वरभजन, यज्ञानुष्ठानादि।

इन विचारों को यानी नीची जातियों को ग्रहण करने वाले ब्राह्मण पर यह इल्जाम लगाया जाता है कि वे सनातन धर्म के अनुयायी नहीं, क्योंकि कहा जाता है कि छुआछूत मानना ही सनातन धर्म है। अच्छा, एक संयुक्त प्रान्त के और एक छत्तीसगढ़ के ब्राह्मण को लीजिए। हम जानते हैं कि दोनों कट्टर हिन्दू, सनातन धर्म के पालक हैं और उन्हें छुआछूत का पूरा ज्ञान है, परन्तु एक सूती कपड़ा पहनकर क्यों भोजन बनाता या खाता है और दूसरा क्यों कोसा या रेशम पहनकर? एक अपने निश्चित चौके से बाहर निकलकर बनाना अधर्म समझता है और दूसरा क्यों बाहर भी पका सकता है? उसे ऐसे चौके आदि की आवश्यकता क्यों नहीं है? ऐसी दशा में किसको श्रेष्ठता दी जाय? सनातन धर्म वह है जो मनुष्य मात्र को अपना सके, मरते हुए अछूत को दवा-दारू पिलावे और समय पड़ने पर अपने ही सर पर लाद कर उसे दवाखाने में पहुँचावे। जब यह बात सनातन धर्म में नहीं तो वह सनातन धर्म में नहीं। सनातन धर्म वही है, जो सनातन से चला आ रहा है और जो हमारे वैदिक भारत का भूषण था। क्या वैदिक भारत में हमारे ऋषिमुनि ऐसे धर्म-कार्यों से मुख मोड़ते थे? कदापि नहीं। यदि हमें अपनी वास्तविक उन्नति करनी है तो आधुनिक विचारहीन जाति-भेद को हमें त्याग देना, दीनों का, अन्य जातियों को अपनाना; अपनी कठोरता से मुख मोड़ना और मन की संकीर्णता त्यागकर उस भर्य कर्म-क्षेत्र में आना चाहिए, जहाँ सामाजिक जाति-भेद नहीं; और जाति-भेद है तो कार्य-व्यवस्था के हित।

इस पर यदि कोई कहे कि जब 'जाति-भेद' नहीं तो फिर ब्राह्मणों को जनेऊ क्यों पहिनना चाहिए। उत्तर में हम यह कहेंगे कि उनका चिह्न है। जनेऊ पहिनने का उद्देश्य यह है कि लोग जान सकें कि वह ब्राह्मण है; वे उनकी पूजा कर सकें। पूजा इसलिए करें कि शास्त्र पुराणों में उसका गान है। ब्राह्मणों की पूजा इसलिए की जाय कि उनका जीवन परोपकारमय है। यह चिह्न (जनेऊ) केवल ब्राह्मण में नहीं, परन्तु प्रत्येक वर्ण में है, जैसे क्षत्रिय का तलवार और विशेष प्रकार के वेश, वैश्य की चपटी या छोटी दबी हुई पगड़ी या और कुछ जिसका इस युग में लोप हो गया होगा। शूद्र का कोई निश्चित चिह्न नहीं।

अच्छा तो, अब खाने-पीने में कोई रुकावट नहीं तो अन्तर्जातीय विवाह में क्यों रुकावट डाली जाय? यह विवाद तब शुद्ध और ग्रहणीय माना जा सकेगा, जबकि वर-कन्या में आगे चलकर कोई अन्तरता न पैदा कर दे और जिससे उनका जीवन नष्ट हो जाय। अन्तरता स्वाभाविक इसलिए है कि यदि ब्राह्मण की लड़की वैश्य को ब्याह दी गई तो पूजानुरक्ता या अध्यात्म नीतियों को जानने वाली वह लड़की व्यापारिक झंझटों या नीतियों से सहज ही घबरा उठेगी। यद्यपि इनके सांसारिक बन्धनों को कष्ट न पहुंचेगा फिर भी वह आन्तरिक पीड़ा को न सह सकेगी। यदि वह सती और सच्ची हिन्दू बाला होगी तो वह अपने पति का त्याग कभी

न करेगी या आत्महत्या कर संसार से छुट्टी लेगी। यही हाल पुरुष का भी होगा। हाँ, ऐसा विवाह तब पवित्र और सराहनीय हो सकता है, जब विवाह के पहिले भिन्न जाति के पुरुष और स्त्री में प्रेम हो जाता है क्योंकि उस समय उन्हें दूर कर देना जघन्य कार्य है।

(प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : जून, 1920 ई.)

21

वंशच्छेद

बंग देश के एक भूतपूर्व लैफ्टिनेंट गवर्नर ने, भारतवर्ष में मनुष्य संख्या की अधिकता से घबरा कर कहा था They breed and breed and breed और कई नवशिक्षित सज्जन जनसंख्या के विषय में मैल्थस के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए सन्तानोत्पित्ति के विरुद्ध हैं। विलायत में इसके विरुद्ध भय हो रहा है कि उचित सन्तान नहीं उत्पन्न होती और जनसंख्या घट रही है। इसमें एक कारण तो है कि शिक्षित माता-पिता अपने एकांतग्रह को चीं पों से पूर्ण करना नहीं चाहते, एक या दो सन्तानों की भोग्य सम्पत्ति पर पन्द्रह सोलह को बिठाना नहीं चाहते और इससे यह होता है कि योग्य और शिक्षित लोगों का, और विशेषतः शिक्षित स्त्रियों का, प्रजनन नष्ट हो गया है। अतएव कई वैज्ञानिक मनुष्य वंश को उसी तरह बढ़ाना चाहते हैं जैसे घोड़ों या बैलों की नस्ल सुधारी जाती है। या जैसे पेड़ों को देख-देखकर कलम लगाई जाती है। औषध या वैद्यों के उपदेश केवल मार्ग ही दिखला सकते हैं, और जीवन मनुष्य जाति को एक बड़े भारी अन्धकूप में ले जा रहा है, जिसमें से राजनियमो से वैद्यक शास्त्र उसे बचा सकता है। सब कहीं, वंशज रोग, वंशज मद्यपान, अंधापन, बहरापन, कोढ़ प्रभृति बढ़ते जाते हैं। सेना के योग्य मनुष्यों की संख्या घटती जाती है और नये उपनिवेशों में मँगते, पागल और पापी बढ़ते जाते हैं। इसका कारण यही है कि जो अच्छी सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं, वे नहीं करते और अयोग्यों का जनकत्व घटता नहीं, किंतु बढ़ता ही है।

पहले बालक रोगों से मर जाते थे, और जो बचते थे, 'सत्तम' रहते थे, किंतु डाक्टरी से बालरोगों से मौत तो घट गई, किंतु दूध के साथ औषध का विष लेकर बालक बड़े होने पर अयोग्य और क्षीण सृष्टि को बढ़ाते हैं। सार्वदेशिक अधःपात का भूत सत्य है, हमारी घ्राणेन्द्रिय पशुओं से कम हो गई है, सभ्यता से दाँत गलते जाते हैं, आँखें अनुपयुक्त होती जाती हैं, अस्थियां, स्त्रियों के स्तन और विषयवासना घटती जाती है। परिणाम यह होगा कि हाथ गीले होते ही ज्वर आ जाया करेगा, साधारण वायु हमारे श्वास के लिये भद्दी होगी, इसकी छनी छनाई 'आक्सीजन' बाँधते फिरना होगा और बिना उसके मछली की तरह तड़पना होगा। आँख को रोज साफ करना होगा, मद्य और तम्बाकू से उत्तेजना न पाकर मनुष्य विषों से काम लेंगे, सहवास असभ्य समझा जाकर प्रजनन कृत्रिम उपायों से किया जाया करेगा। इस मार्ग पर चलते-चलते हमारा जीवन वनस्पतियों का-सा हो जायेगा। इस भयंकर परिणाम का भयंकर उपाय डाक्टर चैपल ने यह बताया कि जो स्त्री बलिष्ठ सन्तान जनन के अयोग्य है या जो दुर्बल सन्तान जननेवाले को ब्याही जा चुकी है, उसे बलात्कार से, सरकारी कायदे से, डाक्टरी उपाय से,

गर्भाशय को काटकर वध्या बना दिया जाय। इस दुर्बल श्रेणी में सभी रोगी और असमर्थ आ आ गये हैं। किंतु केवल अयोग्यों को बंध्य करने से काम न चलेगा। इस निषेधात्मक क्रिया से वंश का लोप शीघ्र होगा, जब तक कि योग्यों को सन्तान उत्पन्न करने में बाधित न किया जाय।

बुद्धि के व्यायामों में लगने से शक्तिहीन होकर, कितने ही प्रजनन नहीं करते और कितने देशों में यह स्वयंसिद्ध सिद्धान्त हो गया है कि कोई पत्नी बिना अपनी इच्छा के माता नहीं बनाई जा सकती, और पति भी नहीं चाहते कि कई पुत्रों के पिता बनकर उन्हें निर्धन या अशिक्षित छोड़ जायें, कठिनाई तो यह है कि इन सिद्धान्तों को प्रजनन के योग्य वंश मानते हैं, जिससे इंग्लैण्ड में प्रति दिन पाँच सौ जन्म कम होने लग गये हैं और कहीं-कहीं बीस प्रति सैकड़ा जन्म घट गये हैं। पहले तो सिद्धान्त था कि सम्पत्ति बढ़ने से सन्तति बढ़ती है, किंतु अब सम्पत्ति बढ़ने से सन्तति का नाश होता है, क्योंकि सन्तति होने से अपने लाभ और उत्साह को रोकना पड़ता है। नाड़ी-विज्ञान के नियम से इन लोगों ने पत्नीत्व और मातृत्व को पृथक् कर लिया है और जनक होकर भी वे दांपत्य सुख से निबाह देते हैं। अर्थशास्त्र का यह नियम तो वंशच्छेद करता ही है; किन्तु स्त्रियों की उन्नति और अपने अधिकारों का जानना भी इस घोर परिणाम का कारण है। वे परिवार को कम करना चाहती हैं, और वेदना को बार-बार नहीं सहना चाहतीं। वर्तमान युग पीड़ा से घबड़ाता है। और, यदि पुरुष उस वेदना को जानते तो स्त्रियों की इस 'हड़तालों' को बुरा न कहते। किंतु उस वेदना का अनुमान करके पुरुषों ने भी स्त्रियों के उस कार्य में सम्मति दे दी है जिससे प्रेम और पशुवृत्ति का पूरण हो जाय, किंतु मातृत्व न उठाना पड़े। यद्यपि यों इन दोनों कर्मों का पृथक् करना बुरा है, किंतु सन्तान को पाल सकने वाले, सम्पन्न, अपनी शक्ति भर सन्तान उत्पन्न करें और असमर्थ और दुर्बल इस काम से रोके जायें तो यह न्याय है। नहीं तो पृथ्वी से अच्छे-अच्छे वंश लोप हो रहे हैं और हो जायेंगे और दुर्बल लोग और दीन पृथ्वी को छा लेंगे। अतएव अच्छे सामाजिकों का धर्म है कि जितनी सन्तति उत्पन्न कर सकें, करें, किंतु उन्हीं में इसका विरोध पाया जाता है। तो, बलात्कार से वंध्यत्व का नियम चलने पर कितना बड़ा अनिष्ट होगा। योग्य स्त्रियाँ भी यदि इस डाक्टरी उपाय का परिणाम वंध्यत्व जानेंगी तो वे क्या इसे पहले न स्वीकार करेंगी ? वे इस यातना से बचने की पीड़ा भी सहेंगी, किंतु यह आपरेशन तो बिना पीड़ा के होगा। अतएव विचार है कि योग्य स्त्री को वंध्या करने वाले डाक्टर को दंड की व्यवस्था की जायेगी। यदि डाक्टर को रुपया देकर मैं अपनी आँख निकलवा लूँ तो राजा क्या कह सकता है ! कौन जूरी यह कह सकेगी कि बिना पीड़ा का आपरेशन करना, प्रार्थना पर दंडनीय है ? और इस नियम से ब्रह्मचारियों को भी दंड मिलना चाहिए। यों अयोग्यों को बलात्कार से वंध्य किया जाय, और योग्य स्वयं वंध्य होते जायें, तो संसार में बचे मनुष्यों को पाँव पसार कर सोने का स्थान खूब मिल जायेगा। यों योग्यों का सन्तान उत्पन्न न करना भयंकर है, और ज्ञान के विस्तार से जब मूर्खों और नीचों में भी यह ज्ञान पहुँच गया कि जनक के बिना वासनाएँ पूरी हो सकती हैं, तो अनर्थ हो जायेगा और "सत्तमों का अवशेष" जगत् पर छा जायेगा। यह सब तत्त्व Review of Reviews से लिए

हैं।

श्वेतों की इस चिन्ता में हमें भी चिन्ता का कारण है कि पीत और श्याम जातियाँ सन्तान उत्पन्न करने में धर्म समझती हैं और वे अर्थशास्त्र या स्त्री-स्वाधीनता के चक्र में जनसंख्या घटाती नहीं। तब भला उनका दिन-रात बढ़ता बोझा कौन उठावेगा ? जब ग्वाले और गड़रिये कम हो रहे हैं तो बढ़ती हुई रेवड़ को कौन सम्हालेगा ? 'मुनीनां च मतिभ्रमः'।

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-फरवरी-मार्च-अप्रैल, 1905 ई.)

22

सोऽहम्

'सोऽहम्' वह मैं हूँ – यह बात भारतवर्ष के हिन्दू के सिवाय और कोई नहीं कहता। इसी बात के कहने से हिन्दू, हिन्दू है, इसी में हिन्दू का हिन्दुत्व है, हिन्दू का हिन्दूधर्म है। 'सोऽहम्' हिन्दू का लक्षण है, हिन्दुत्व का लक्षण है, हिन्दूधर्म का लक्षण है।

बात क्या है ? सो समझ लेनी चाहिए।

ब्रह्म और ब्रह्माण्ड, सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि इन दोनों में क्या भेद है ? क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में प्रधानतः दो ही मत हैं। एक मत तो यह है कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्म, सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि एक ही पदार्थ हैं, अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड का उपादान है, सृष्टिकर्त्ता ही सृष्टि का उपादान है। उपादान किसे कहते हैं ? जिसके द्वारा वस्तु निर्मित हो, वही उस वस्तु का उपादान है। जैसे – मृत्तिका घट का उपादान। अतएव इस मत के अनुसार ब्रह्म जो पदार्थ है, ब्रह्माण्ड भी उसी पदार्थ से बना है। ब्रह्माण्ड ब्रह्म से पृथक नहीं है। इस मत के बारे में यही प्रधान बात है; इस प्रबन्ध में जो और अवान्तर बातें कहना आवश्यक होंगी; आगे कही जावेंगी। दूसरा मत यह है कि ब्रह्म ब्रह्माण्ड से, सृष्टिकर्त्ता सृष्टि से बिलकुल पृथक् है। सृष्टि से पहले सृष्टि का उपादान कुछ भी न था। सृष्टिकाल में सृष्टिकर्त्ता ने अपनी असीम शक्ति से न मालूम कैसे जगत् बना दिया। सृष्टिकर्त्ता स्वयं जो वस्तु है; सृष्ट जगत् वह वस्तु नहीं है; उस वस्तु से बिल्कुल पृथक और भिन्न-भिन्न प्रकृति की चीज है। इन दोनों मतों में प्रथम मत हिन्दुओं का है दूसरा कृस्तान प्रभृति का। यह नहीं कि प्रथम मत भारत से बाहर और कहीं प्रचारित ही नहीं हुआ। बात यह है कि जैसे यह भारत में प्रबल है वैसे और कहीं नहीं। इसलिए यह – 'भारतवर्ष' के हिन्दुओं का मत' – इस नाम से प्रसिद्ध है।

दोनों मतों में कौन सत्य है ? कौन ग्रहण योग्य है ? इस मत की दो प्रकार से मीमांसा हो सकती है और दोनों ही तरह से हिन्दू का मत ही पक्का मालूम होता है।

पहली बात यह है कि जगत् यदि जगदीश्वर से पृथक् है तो फिर जगदीश्वर असीम नहीं हो सकता, उसे असीम होना पड़ेगा। जहाँ दो वस्तु हों, वहाँ कोई भी असीम नहीं हो सकती, दोनों ही पदार्थ असीम हो गये। कृस्तान प्रभृति अपरधर्मावलम्बी यह कहते हैं कि जगदीश्वर जगत् से पृथक् होकर भी जगत् में विराजमान है, अतएव असीम नहीं है। किंतु जगत् में सर्वत्र विद्यमान होना और जगत् होना – यह दोनों एक बात नहीं हैं। अतएव जगदीश्वर यदि जगत् में केवल विद्यमान ही है, जगत् नहीं है तो जगत् में जगदीश्वर को छोड़कर कुछ और भी है और उसके होने ही से जगदीश्वर को ससीम होना पड़ा। जहाँ दो या उससे अधिक वस्तु हों, वह

सीमाज्ञान अपरिहार्य है । दूसरी बात यह है कि सृष्टि का कोई उपादान नहीं था, इस बात की हम भावना नहीं कर सकते । कोई वस्तु एक बेर कुछ भी नहीं रही हो यह कल्पना मनुष्य की शक्ति के बाहर है, मनुष्य मन के लिए असाध्य है । मनुष्य इसे सोच नहीं सकता, इसकी धारणा नहीं कर सकता, तो जो कुछ नहीं था, वह अचानक हो पड़ा, यह बात कैसे मन में आवै ? जो इस मत के पक्षपाती हैं वह कहते हैं कि जगदीश्वर की शक्ति असीम है, उसे कुछ भी असाध्य नहीं है, मनुष्य जिस बात को समझ भी नहीं सकता, उसे वह अनायास कर सकता है । अतएव जिस बात की मनुष्य धारणा नहीं कर सकता, वह असम्भव या असत्य हो यह कोई बात नहीं । यह है तो ठीक, किंतु जगदीश्वर के सब कुछ साध्यायत्त है, यों मानकर सब कुछ उसने किया यह कहना कोई बात नहीं । विचार करते ही जो वह सब कुछ कर सकता है, यही उसका प्रकृत असीमत्व और अनन्तत्व है । किंतु असीम और अनन्त मानते हुए उसने सब कुछ किया यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं । अतएव जिस प्रणाली की सृष्टि को मनुष्य बूझ नहीं सकता उस प्रणाली से जगदीश्वर ने सृष्टि नहीं की – यह कहना जगदीश्वर की असीम शक्ति और उसके अनन्तत्व का अस्वीकार करना नहीं है । यह विचार्य विषय यह है कि जिस मत के अनुसार सृष्टि क्रिया मनुष्य के लिए दुर्बोध्य है, उस मत के अवलम्बन की आवश्यकता है कि नहीं । प्रत्युत्तर में सब ही यों कहते हैं कि सृष्ट जगत् स्रष्टा जगदीश्वर से इतना अधर्म और निकृष्ट है कि जगत् जगदीश्वर को एक पदार्थ मानने से जगदीश्वर की नितान्त ही अवमानना करनी होती है उसे नितान्त ही अधम मानना पड़ता है । किंतु जगदीश्वर अधम पदार्थ का सृष्टिकर्त्ता है – यों कहने से जगदीश्वर की क्या उतनी ही अवमानना नहीं की गई, उसे उतना ही अधम नहीं दिखाया गया ? क्या केवल अधम पदार्थ होने ही से अधम होना होता है, अधम कार्य करने अथवा अधम पदार्थ प्रस्तुत करने से क्या अधम नहीं होना होता । लोक में खाली दुश्चरित्र होने से अधम होता है ? सच्चरित्र होकर भी यदि दुर्नीतिपूर्ण पुस्तकें लिखें तो क्या अधम नहीं हुए ? तो जगत् को अपकृष्ट पदार्थ कहकर इस जगदीश्वर का रूप, विकास वा विवर्त न कहने से, इसे सृष्ट पदार्थ ही कहने से क्या ईश्वर के मान वा गौरव की रक्षा हो गई ? जो यह कहते हैं उनकी बात हम नहीं समझ सकते; उनका नीतिशास्त्र कैसा है सो वही जानें, उनका मानमर्यादा विषयक संस्कार कैसा है सो वही कह सकते हैं । इस विषय में और जो वक्तव्य है सो आगे चलकर कहेंगे ।

परन्तु दोनों मतों में कौन-सा अच्छा है, इसकी मीमांसा करने का एक और अच्छा उपाय है । जरा ध्यान लगाकर देखने से जाना जा सकता है कि दोनों मतों में विशेष पार्थक्य नहीं है । जगत् जगदीश्वर का रूप विकास वा विवर्त है, यों कहने का जो अर्थ है जगत् जगदीश्वर की सृष्टि है यों कहने का भी अर्थ प्रायः वही है । सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता के बीच में क्या सम्बन्ध है, यह एक पार्थिव दृष्टान्त द्वारा बहुत कुछ समझा जा सकता है । शेक्सपीयर अथवा शेक्सपीयरत्व एक पदार्थ है । शेक्सपीयर रचित 'हैमलेट' का चरित्राङ्कन और ही पदार्थ है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'हैमलेट' शेक्सपीयर से पृथक् पदार्थ है । 'हैमलेट' का चरित्र जिन सब उपकरणों से बना है, मालूम होता है कि स्वयं शेक्सपीयर के चरित्र में वह सब उपकरण नहीं थे । इस अर्थ

में 'शेक्सपीयर' और 'हैमलेट' दो भिन्न पदार्थ हैं। हैमलेट के शेक्सपीयर से भिन्न होने पर भी हैमलेट में कुछ ऐसी चीज़ है जो शेक्सपीयर में पाई जाती है और किसी व्यक्ति में नहीं पाई जाती। उस 'कुछ चीज़' का नाम शेक्सपीयरत्व, शेक्सपीयर का सार, शेक्सपीयर की अस्थिमज्जा वा शेक्सपीयर का शेक्सपीयर – जो शेक्सपीयर का कोई एक भाव वा कार्यविशेष नहीं है, जो शेक्सपीयर के सकलभाव और सकल कार्यों में हैं, जिनके गुण से शेक्सपीयर के भाव शेक्सपीयर के भाव हैं, और किसी के या और किसी तरह के भाव नहीं हैं, शेक्सपीयर के कार्य शेक्सपीयर के ही कार्य हैं और किसी के या और किसी तरह के कार्य नहीं हैं, वह 'कुछ चीज़' अर्थात् वह शेक्सपीयरत्व शेक्सीयर का सार, शेक्सपीयर का अंस्थिमज्जा वा शेक्सपीयर का शेक्सपीयर खाली हैमलेट से ही नहीं है, शेक्सपियर रचित छोटे-बड़े, भले-बुरे सब चरित्रों में है – लीयर में, मिरण्डा में, फालष्टाफ़ में, ओवेरन में, मैकबैथ, मैकडफ शाड्लाक सब चरित्रों में है। मिल्टन रचित किसी चरित्र में वह शेक्सपीयरत्व नहीं और शेक्सपीयर रचित किसी चरित्र में मिलटनत्व नहीं।

यों ही सकल मानव सृष्टिकर्त्ता के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है एवं इस कथा का अर्थ यह है कि जो जौन सी सृष्टि वा रचना करता है, उसमें उसका निज कुछ वा कुछ निजत्व रहता ही रहता है। जिस परिमाण में वह निज का कुछ वा कुछ निजत्व है, कम-से-कम उसी परिमाण में मानवसृष्टा और मानवसृष्टि के विषय में कहा जा सकता है कि दोनों एक ही पदार्थ हैं, और मानवसृष्टि वा मानवसृष्टपदार्थ मानवसृष्टा को लक्ष्य करके कह सकते हैं कि सोऽहम्। शेक्सपीयर का हैमलेट यदि काल्पनिक सृष्टि न होकर हमारा तुम्हारा-सा सजीव वा सचेतन सृष्टि होता तो तुम-हम जैसे ब्रह्म को लक्ष्य करके कह सकते हैं – सोऽहम्। वैसे वह भी शेक्सपीयर को लक्ष्य करके कह सकता था – सोऽहम्। कार्य से कारण भिन्न होने पर भी कार्य कारण में रहेगा ही। कृष्टानधर्मावलम्बी यूरोपीय दार्शनिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। अतएव सृष्टि में सृष्टिकर्त्ता अवश्य है – सृष्टि से सृष्टिकर्त्ता सम्पूर्णरूपेण पृथक् हो नहीं सकता। सृष्टिकर्त्ता को कम-से-कम सृष्टि का आंशिक उपादान तो करना ही होगा। अन्ततः उसी अंश के सम्बन्ध से सृष्ट पदार्थ सृष्टिकर्त्ता को लक्ष्य करके कह सकता है – सोऽहम्। कहने में कोई दोष नहीं, कहना ही कर्त्तव्य है। न कहने से सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व का अस्वीकार करना हुआ एवं सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व के अस्वीकार का मान नास्तिकता है। अतएव कृस्तान प्रभृति द्वैतवादियों के मतानुसार भी ब्रह्म से ब्रह्माण्ड पृथक् नहीं है। सृष्टिकर्त्ता से सृष्टि नहीं है। उस मत के अनुसार भी अस्तित्व एक ही है, दो नहीं, वस्तु एक ही है, दो नहीं। दार्शनिक श्रेष्ठ फेरियर ने कहा है[1] The only absolute existence is an eternal mind in permanent synthesis with matter. अर्थात् जड़ प्रकृति के साथ अच्छेद्य भाव से संयुक्त एक ही अनन्त चैतन्य की वास्तव सत्ता है और कुछ भी नहीं हैं। अतएव सृष्टि से सृष्टिकर्त्ता को भिन्न कहने पर भी, और भिन्न कहकर विवेचना करके युक्ति सिद्ध होने पर यह अवश्य स्वीकार

1. फेरियर –'इंस्टिट्यूट आफ मेटाफिजिक' नामक ग्रन्थ देखो।

करते हैं कि सृष्टि में जो कुछ है सो सृष्टिकर्त्ता की ओर लक्ष्य करके कह सकता है – सोऽहम् । अतएव विकासवाद और सृष्टिवाद दोनों ही पक्षों में सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता का एकत्व निश्चित हुआ।

यहाँ एक गुरुत्तर मीमांसा आवश्यक होती है । जो कृस्तान प्रभृति की तरह द्वैतवादी हैं, वे कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड में जो भले-बुरे सभयविध द्रव्य देखे जाते हैं तो कैसे सब ब्रह्माण्ड को ब्रह्म कहें, कैसे तिक्त और मधुर को एक कहें, सुगन्ध और दुर्गन्ध को एक कहें, दया और निर्दयता को एक कहें ?

इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि जब विकासवाद और सृष्टिवाद दोनों ही में सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता का एकत्व प्रमाणीकृत हो चुका ही है, तो फिर कोई भी ऐसी आपत्ति उठाने में समर्थ नहीं है । द्वितीय और प्रधान उत्तर यह है कि यह सब विभिन्नता प्रकृत विभिन्नता नहीं है – यह सब विभिन्नता मनुष्य की अवस्था विशेष का फल वा उपलब्धि मात्र है । मनुष्य जिस द्रव्य को तिक्त कहकर फैंक देता है, कोई पशु उसी द्रव्य को अतिशय मधुर मानकर पेट भरके खाता है । मनुष्य की दृष्टि में जो लाल है, किसी एक पक्षी की दृष्टि में वह काला है । स्थूल अवस्था में भिन्न-भिन्न द्रव्यों के भिन्न-भिन्न आकार और स्वाद रहते हैं । रासायनिक विश्लेषण द्वारा वही द्रव्य सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर एक ही आकार धारण करते हैं और प्राय: एक ही स्वाद देते हैं । स्थूल आकार में एक ही वस्तु इन्द्रियों को भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीयमान होती है । यूरोपीय वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि ताप, तडित् और आलोक प्रभृति जो सब स्थूल पदार्थ स्थूल इन्द्रियों के द्वारा इतने न्यारे-न्यारे अनुभूत होते हैं, सूक्ष्माकार में वे सब एक ही पदार्थ हैं । अतएव जो जगत् में विभिन्नता करके जानी जाती है वह प्रकृत विभिन्नता नहीं है – स्थूल इन्द्रिय सम्पन्न स्थूल अवस्था की स्थूल उपलब्धि मात्र है । जो स्थूल इन्द्रियों का शासन अतिक्रम करके स्थूल अवस्था से उन्नत हो सूक्ष्मरूप दर्शन करने में समर्थ हो गये हैं, उनके लिए जगत् में भले-बुरे का भेद नहीं है, प्रकृत विभिन्नता नहीं है । उनके पास तिक्त-मधुर का भेद नहीं है, सुन्दर-कुत्सित का भेद नहीं है, पाप-पुण्य का प्रभेद नहीं है । जो स्थूल दृष्टि के शासन में रहकर स्थूल दृष्टि से देखते हैं – वही केवल तिक्त, मधुर, पाप, पुण्य प्रभृति विभिन्नता दर्शन करते हैं और वही समस्त विभिन्नता के अधीन होकर नानाविध क्लेश भोग करते हैं और अवनति को प्राप्त होते हैं । यह जो हम जड़ पदार्थ और चैतन्य के बीच में प्रभेद करते हैं, क्या यह ठीक है ? आधुनिक यूरोपीय विज्ञान कहता है कि जड़ जगत् ही चिन्मय जगत् रूप में फूट पड़ा है, (अर्थात् जड़मय से चिन्मय बना है) । हम भी नित्य देखते हैं कि हम जिन सब जड़ द्रव्यों को भक्षण करते हैं, वे केवल हमारे जड़ शोणित और जड़ अस्थि की ही वृद्धि नहीं करते हैं, किंतु हमारी चिन्ताशक्ति की भी वृद्धि करते हैं । शुक्रशोणित समुद्भूत सन्तान केवल जड़ नहीं चेतना सम्पन्न भी होते हैं । तौही हमारे गुरुतुल्य एक ग्रन्थकर्ता लिख गये हैं – "जड़ जगत् चिन्मय है ।"[1] अतएव कैसे कहें कि जड़

1. देखो, स्वर्गीय भूदेवमुख्योपाध्याय सी.आई.ई. के 'पारिवारिक प्रबन्ध का उत्सर्गपत्र' ।
यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भारत के सुपुत्र विज्ञानाचार्य अध्यापक जगदीशचन्द्र वसु ने सुकुमार विज्ञान से जड़ पदार्थों में चेतना पूरी तरह सिद्ध कर दी है ।

पदार्थ और चेतन पदार्थ भिन्न पदार्थ हैं ? कैसे यह नहीं कहें कि हम स्थूल अवस्था में स्थूल इन्द्रियों के शासन में हैं अतएव जड़ का और चैतन्य का एकत्व देख नहीं सकते। कैसे न कहें कि जड़त्व चैतन्य की एक अवस्था मात्र ही है ? कैसे न कहें कि ब्रह्म अथवा स्थूलतः शून्य चैतन्य के लिए जड़ और चैतन्य एक ही पदार्थ है ?

किंतु ब्रह्माण्ड के भीतर प्रकृत विभिन्नता वा वैषम्य न होने पर भी यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि ब्रह्माण्ड की एक स्थूल अवस्था है। ब्रह्माण्ड में प्रकृत विभिन्नता नहीं है ठीक, किंतु एक प्रकार की विभिन्नता है। यह विभिन्नता स्थूलत्व का फल अथवा स्थूलत्व है। किंतु उसके होते कैसे कहा जाय कि ब्रह्माण्ड और ब्रह्म एक ही पदार्थ हैं ? ब्रह्माण्ड में यदि स्थूलत्व रहता है तो ब्रह्माण्ड और ब्रह्म को एक कहने से ब्रह्म को भी स्थूल कहा गया और ब्रह्म स्थूल है यह बात कहने से उसको पाप-पुण्य रूप विभिन्नता और वैषम्य का विषयीभूत वा अधीन करना हुआ। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्माण्ड का स्थूलत्व ब्रह्माण्ड का नित्य गुण वा नित्य की अवस्था नहीं है – क्षणस्थायी गुण वा अवस्था की क्षणिक उपलब्धि मात्र है। इस गुण वा अवस्था में प्रकृत अस्तित्व नहीं है, यह सहज ही जाना जा सकता है। मनुष्य की राग, द्वेष, लोभ, मोह, प्रभृति कितनी ही स्थूल प्रवृत्तियाँ हैं। मनुष्य जितनी देर उन सब स्थूल प्रवृत्तियों के वशीभूत रहता है, उतनी देर उसे केवल कुछ क्षणस्थायी एवं विभिन्न भावों का आधार वा रणक्षेत्र इस नाम से कहकर जानना चाहिए। वह भी उन विभिन्न क्षणस्थायी भावों के अधीन रहकर अपने को प्रति मुहूर्त अलग-अलग भावों में अनुभूत करता है – अपना जो नखशिख सुदृढ़ सुनिश्चित सुस्थिर समतामय अस्तित्व है, उसे अनुभव नहीं करता अथवा नहीं कर सकता। स्वच्छ जल में बादल के बाद बादल की छाया पड़ने से जल की जैसी आकृति होती है, वैसे ही उसकी आध्यात्मिक आकृति हो जाती है। किंतु बादल के बाद बादल की छाया पड़ने से स्वच्छ जल की जो आकृति वा अस्तित्व है, वह जैसे स्वच्छ जल की प्रकृत आकृति वा अस्तित्व नहीं है, भिन्न-भिन्न भावों के अधीन हुए मनुष्य की जो आकृति का अस्तित्व है, वह भी वैसे ही मनुष्य की प्रकृत आकृति वा अस्तित्व नहीं है। किंतु मनुष्य ज्यों ही लोभ, मोह, मात्सर्य प्रभृति स्थूल इन्द्रियमूलक स्थूल प्रवृत्तियों के शासन को उलाँघता है त्यों ही वह एक सुदृढ़, सुनिश्चित, सुस्थिर, सुन्दर, सुनिर्मल, समान आकार का धारण झटपट ही कर लेता है।

जगत् में कोई भी उस आकार का परिवर्तन वा विकार नहीं कर सकते। तब मनुष्य का आकार वा अस्तित्व मेघों की काली छाया से विमुक्त स्वच्छ जल के आकार वा अस्तित्व के अनुरूप वा समान है। अतएव समझा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड में जो स्थूलत्व है, वह क्षणस्थायी अवस्था मात्र है, प्रकृत अस्तित्व नहीं है। अतएव ब्रह्म के आंशिक मायामय क्षणस्थायी रूप के ब्रह्म से ही उद्भृत वा प्रक्षिप्त होने पर भी ब्रह्म तद्द्वारा दूषित नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म नित्यतामय है।

अतएव अनित्य द्वारा हारने का नहीं एवं ब्रह्म उसके अधीन नहीं है, वही ब्रह्म के अधीन है। इसका कारण यह है कि वह भी ब्रह्म की इच्छा में सम्भूत है – इन्द्रजाल जैसे ऐन्द्रजालिक का इच्छासम्भूत है, वैसे यह भी ब्रह्म की इच्छा से सम्भूत है एवं इन्द्रजाल जैसे ऐन्द्रजालिक के

प्रकृत अस्तित्व को स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे वह भी ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकता। वह कैसे स्थूल रूप धारण करता है वा स्थूलत्व प्रकाश करता है, यह वही जानता है। किंतु चाहे जिस कारण से करे, वह जब अपने को लेकर आप ही इस रूप को धारण करता है, तब और कोई बात ही नहीं हो सकती। दूसरे के बारे में 'भला-बुरा' काम करना कहा जाता है। अपने को लेकर भला-बुरा काम करने की कोई बात ही नहीं हो सकती। अतएव ब्रह्माण्ड में स्थूलत्व रहने पर भी ब्रह्माण्ड और ब्रह्म एक हैं, इस बात के कहने में कोई दोष हो नहीं सकता। फलतः ब्रह्माण्ड यदि ब्रह्म को लक्ष्य करके कहे – सोऽहम् – तो ब्रह्माण्ड सब बातों का सार ही कहता है।

हम में से जिनने हमारे शास्त्र नहीं पढ़े हैं, अंग्रेजी शास्त्र ही अधिक पढ़ा है उनके लिए यहाँ दो-तीन बातों की मीमांसा करने की चेष्टा करते हैं। उनमें से कुछ-कुछ कहा करते हैं कि यदि ब्रह्माण्ड ब्रह्म ही है तो ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं सब ही ब्रह्म हैं। और ऐसा होने से तुम भी ब्रह्म, मैं भी ब्रह्म, वृक्ष भी ब्रह्म, पत्थर भी ब्रह्म, ईंट भी ब्रह्म – सब ब्रह्म ही ब्रह्म। ऐसा होने से जगदीश्वर एक नहीं हुआ, जगत् में जितने पदार्थ हैं उतने ही जगदीश्वर हैं। किंतु इसकी अपेक्षा और हास्यापद बात हो नहीं सकती। जो ऐसा तर्क करते हैं, वह ब्रह्म किसे कहते हैं सो नहीं जानते और 'सोऽहम्' क्या है यह भी नहीं जानते। वे यह नहीं जानते कि ब्रह्म एक ही पदार्थ है, विभाज्य नहीं है, एवं ब्रह्म केवल ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। चक्षु या अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। अतएव वे जब यह कहते हैं कि जगत् में जितने पदार्थ हैं वे ब्रह्म हैं, तब वे इन्द्रियातीत पदार्थों को इन्द्रिय प्रत्यक्ष पदार्थों के अवस्थापन्न करते हैं। उनकी और एक भूल है कि जहाँ प्रकृत संख्या नहीं है, वहाँ संख्या आरोप का वा कल्पना की जाती है। जगत् में पदार्थों में पदार्थों की संख्या है, स्थूल इन्द्रिय द्वारा जगत् देखते ही ऐसा भ्रम हो जाता है। प्रकृत ज्ञानचक्षु से देखने पर जगत में भिन्न-भिन्न पदार्थ वा बहुसंख्यक पदार्थ देखे नहीं जाते, प्रत्युत भिन्न-भिन्न पदार्थ एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूप, आकार या अवस्था जाने जाते हैं। आधुनिक सूक्ष्म और उन्नत विज्ञान ने भी इस बात की सूचना आरम्भ की है। अतएव ब्रह्म जैसे स्थूलचक्षु से देखने की चीज़ नहीं है। ज्ञानचक्षु से देखने की चीज़ है, वैसे ही ब्रह्म के साथ ब्रह्माण्ड वा जगत् का सम्पर्क निर्णय करती बेर जगत् को स्थूलचक्षु से न देखकर ज्ञानचक्षु से देखना उचित है। ज्ञानचक्षु से देखने पर जगत् में एकाधिक पदार्थ नहीं दिखाई देंगे, एकाधिक ब्रह्म भी नहीं दिखाई देगा।

दूसरी बात, ज्ञानचक्षु को छोड़कर स्थूलचक्षु द्वारा देखने पर भी जगत् में जितने पदार्थ हैं, उतने ब्रह्म नहीं देखे जाते। 'सोऽहम्' इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म जो पदार्थ है मैं (अथवा जगत्) भी वही पदार्थ है। यह इसका अर्थ नहीं है कि मैं ही ब्रह्म हूँ। तो कैसे कहते हो कि ब्रह्म और ब्रह्माण्ड को एक पदार्थ कहने में तुम, हम, वृक्ष-पत्ता, घर-बार सबको ही ब्रह्म वा जगदीश्वर कहना हुआ? समस्त समुद्र जो पदार्थ है एक छींटा जल भी वही पदार्थ है, किंतु ऐसा कहने से एक छींटा जल क्या समुद्र हो गया? एक छोटे जल में क्या समुद्र के तिमिङ्गिल खेलते हैं, समुद्र के तरङ्ग उठते हैं, समुद्र का महाप्रलय उद्भूत होता है? एक अंगुलि जो पदार्थ है समस्त देह भी

वह पदार्थ है किंतु उसमें क्या एक अंगुलि देह है ? मन का एक भाव जो पदार्थ है, मन भी वही पदार्थ है, किंतु यह कहने से मन का एक भाव क्या मन है ? तो फिर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वानन्द ब्रह्म जो पदार्थ है जगत् भी वही पदार्थ है, यों कहने से कैसे कहा जाता है कि तू-मैं, बेल-पत्ता, घट-वट एक-एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्द ब्रह्म हुआ ? 'सोऽहम्' का प्रकृत अर्थ समझने की चेष्टा न करने से ही ऐसा प्रलाप बका जाता है।

जिनकी बात कह रहे हैं, उनमें से बहुत-से यह कह बैठते हैं कि ब्रह्म अति महत् पदार्थ है। अतएव जब देखते हैं कि जगत् में मनुष्य को छोड़कर और कोई वा और कुछ प्रकृत महत् नहीं है, कोई प्रकृत महत्कार्य नहीं करता तो क्यों करके जगत् और जगदीश्वर का एकत्व स्वीकार करके जगत् के सकल पदार्थों को महत् कहें ? वह कहते हैं कि जो सब पदार्थ अचेतन हैं वह सब तो कोई काम करते ही नहीं, जो पदार्थ चेतन हैं उन सब में मनुष्य छोड़कर और कोई महत्-कार्य करता ही नहीं, केवल आत्मसेवा में ही नियुक्त रहते हैं। यह क्या ठीक है ? जगत में क्या कोई एक समय नहीं था जब यहाँ मनुष्य नहीं थे ? किंतु उस मनुष्य शून्य जगत् ने ही क्या मनुष्य प्रसव नहीं किये ? यदि किये हैं तो क्यों कहते हो कि जगत् में जो मनुष्य नहीं है वह महत् कार्य नहीं करते वा कर सकते। तुम आपत्ति उठाओगे, मैं यूरोपीय विज्ञान का विवर्त्तवाद नहीं मानता वा नहीं समझता। अच्छा वही सही। तुम मनुष्य हो – अतएव तुम किन्तु महत् हो – यह तो मानो, यह तो समझो। किंतु कहो तो, तुम जिनका आहार करते हो, अर्थात् जगत् जो मनुष्य नहीं हैं, वे तुम्हारे देह में बल-संचार करते हैं इसीलिए तुम जगत् में महत्कार्य कर सकते हो या और कुछ ? यदि यही है तो कैसे कहते हो कि जगत् में जो मानुष नहीं हैं वे महत्कार्य सम्पादन करते ही नहीं ? तुम जिस यूरोप की इतनी बड़ाई करते हो, उसी यूरोप का विज्ञान आज क्या कहता है ? कहता है कि पृथ्वी के कीटानुकीट, अणुपरमाणु, क्षुद्रबृहत्, सचेतन अचेतन सकल पदार्थ ही जगदीश्वर ने विपुल ब्रह्माण्ड के विशाल उद्देश्यों के साधन में नियुक्त कर रक्खे हैं। तुम आत्मप्रधान आत्मसर्वस्व प्रकृत ब्रह्मज्ञानी[1] नहीं हो, तो मन में आता है कि तुम जो करते हो वह जगत् का ही काम है, तुम्हारा जो उद्देश्य है, विपुल ब्रह्माण्ड का वही उद्देश्य है, अनन्त ब्रह्म का भी वही उद्देश्य है। तो तुम जानते नहीं हो कि अनन्त ब्रह्म की दृष्टि में तुम बालू कण भी नहीं हो। तो तुम्हारे मन में यह नहीं है कि असीम अनन्त ब्रह्म की, असीम अनन्त ब्रह्माण्ड की ट्रेन न मालूम किस असीम अनन्त उद्देश्य से तुम-हम राजा-प्रजा, पर्वतप्रान्तर, लता-पत्ता, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, धूल, कादा सब पदार्थों को समभाव से उसी एक उद्देश्य के साधक मानकर, असीम वेग से अनन्त मार्ग पर छूट रही है ! तुम क्या अब कहते हो कि जगत् में मानुष के सिवाय महत् और कुछ नहीं, मानुष के अतिरिक्त महत्कार्य और कोई करता ही नहीं ! तो तुम भारत के हिन्दू नहीं हो। 'सोऽहम्' भारत के हिन्दुओं की बात है। तुम तो भारतवर्ष के हिन्दू नहीं। और तुम भारत या यूरोप, किसी देश के प्रकृत मनुष्य नहीं।

---

1. साम्प्रदायिक अर्थ में इस शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है।

कई ऐसी आशंका करते हैं कि मनुष्य अपने को ब्रह्म मान ले,तो उसके अहंकार की सीमा ही नहीं रहेगी । हम कहते हैं,यह नहीं,मनुष्य जब अपने को 'ब्रह्म' मान लेगा तो उसके अहंकार का नाश होगा । जो हिन्दू कहता है 'सोऽहम्' वह मैं हूँ ,वह हिन्दू वास्तव में कहता है कि जगत् में खाली मैं ही वह नहीं हूँ,जो कुछ है सब वही है । जहाँ सब ही ब्रह्म है वहाँ एक को ब्रह्म कहने में अहंकार वा अभिमान करने का अवसर वा उपाय कहाँ है ? और जहाँ मनुष्य अपने को आप ही कहता है – 'सोऽहम्' वहाँ अहं ज्ञान तो होने ही नहीं पाता,फिर वहाँ अहंता का स्थान कहाँ है ? भारत के साहित्य में भी इसका प्रमाण नहीं है । यूरोप में एक समय धर्म के नाम से अनेक अत्याचार और हत्याकाण्ड हो चुके हैं । प्रोटेस्टेन्ट और अन्यान्य धर्म सम्प्रदायों के अनेक महापुरुष मारे गये हैं,किंतु उनने आनन्द से प्राण विसर्जन किया है तथापि अपने-अपने धर्म विषयक मत को परित्याग वा परिवर्तन नहीं किया । उस बड़े इतिहास को पढ़कर विस्मित और चमत्कृत होते हैं । किंतु उस साहित्य में एक ऐसी बात पाई गई है जो भारत के साहित्य में नहीं पाई जाती । वह बात यह है – उन सब महापुरुषों ने धर्मच्युत होना अस्वीकार किया यह नहीं, किंतु आत्मस्वाधीनता (individual judgement) की दुहाई देकर अस्वीकार किया । उस असाधारण वीरत्व और महत्त्व की जड़ में आत्म वा अहं दिखाई दे रहा है । हिन्दुओं के साहित्य में प्रह्लाद की कथा वैसी ही कथा है – वैसी वा तद्पेक्षा अधिक वीरत्व और महत्त्व की कथा है । किंतु उस कथा मे अहं वा 'आत्मैव' का लेशमात्र भी नहीं है । उस कथा में विष्णु विद्वेषी हिरण्यकशिपु ही अहं वा आत्मैव की प्रतिमूर्ति है – प्रह्लाद में अहं वा आत्मा का बिलकुल अभाव है । प्रह्लाद ने अपने नाम पर,आत्मस्वाधीनता के नाम पर सब यन्त्रणाओं को सहकर अन्तपर्यन्त वैष्णवधर्म धारण किया हो सो नहीं,विष्णु के नाम पर यन्त्रणा सहन करके उसने अन्तपर्यन्त वैष्णवधर्म धारण किया । जहाँ विष्णु ही सब है, वहाँ प्रह्लाद और क्या है ? 'विष्णुपुराण' में प्रह्लाद-चरित्र पाठ करने से मालूम हो जायेगा कि यह प्रातसत्य है वा नहीं । इसीलिए हिन्दुओं के साहित्य में,धर्म के इतिहास में,महत्त्व और वीरत्व की कहानियों में अहं वा 'आत्मैव' की गन्ध भी नहीं – कृष्टधर्मावलम्बी यूरोप के साहित्य में,धर्म के इतिहास में, महत्त्व और वीरत्व की कहानियों में अहं वा आत्मैव बड़ा ही प्रबल है । भारत के 'सोऽहं' ने भारत और यूरोप के बीच में यह अपूर्व भेद उत्पन्न किया है,भारत को यूरोप की अपेक्षा इतना श्रेष्ठ कर दिया है । भारत का 'सोऽहं' भारत के हिन्दुओं को बड़े गौरव की चीज़ है । मनुष्य वही परब्रह्म है,एक हिन्दू को छोड़कर और कोई भी इतनी ऊँची भावना को भावित करने में समर्थ नहीं है, और किसी को ऐसी बात सोचने का साहस है ही नहीं । इस विशाल बात को मन में धारण कर सके ऐसी मानसिक विशालता ही और किसी को नहीं,किंतु यह कहकर अभिमान नहीं किया जाता है । 'सोऽहम्' किसे कहते हैं ? वह यदि समझ लिया जाय तो अभिमान किया ही नहीं जा सकता । अभिमान वा अहंकार के नष्ट हुए बिना कोई भी इस 'सोऽहम्' का अधिकारी नहीं होता । सूक्ष्मदर्शी महामति हिन्दुओं के सूक्ष्मतम अतिविराट् 'सोऽहम्' का अर्थ – प्रकृत ब्रह्मज्ञान,प्रकृत आत्मज्ञान है, अपरिसीम मन अपरिसीम साहस – सबका सामञ्जस्य,सबका महत्त्व,सबका एकत्व और अच्युत विश्वव्यापि अस्तित्व है ।

हिन्दुओं के 'सोऽहम्' कहने में, हिन्दुओं के समान ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मदर्शी, ब्रह्मभक्त ब्रह्माण्डग्र ही, अपरिमित साहस-सम्पन्न विराट्मना मनुष्य पृथ्वी पर और कहीं भी दृष्ट नहीं होते।

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त-नवम्बर, 1903 ई.)

23

बौद्धों के काल में भारतवर्ष

प्रोफेसर रिस डेविड्स ने 'राष्ट्र-कथा-माला' में, इस नाम का एक ग्रन्थ गुम्फित किया है। उसमें कई विलक्षण बातें हैं। प्रोफेसर साहब के अनुसार ब्राह्मणों के लेख विश्वासपात्र नहीं हैं। सब युद्धों में, कामों में उन्होंने अपने ही को प्रधान बताया है। किंतु उनकी बातें देश भर की बातें नहीं हैं। बौद्ध धर्म सर्वसाधारण के उद्योग का फल है और राष्ट्रीय उन्नति में ब्राह्मण पृथक रह गये थे। जैनों और बौद्धों के ग्रन्थ राजपूतों के लिखे हुए हैं। इस ग्रन्थ में उनके ही लेख अर्थात् पाली-ग्रन्थों से बुद्ध भगवान् के निर्वाण से लेकर कनिष्क पर्यन्त काल का ऐतिहासिक चित्र देने का यत्न किया गया है। इससे प्राचीन इतिहास में कई अन्तर लक्षित होते हैं। ब्राह्मणों के अनुसार तो 'ब्राह्मणों के अधीन स्वतन्त्र राजा' यही भारतवर्षीय राजप्रणाली थी, किंतु पाली-ग्रन्थों के अनुसार राजतन्त्र के साथ-साथ ही प्रजातन्त्र भी पाए जाते हैं। (अवश्य ही बौद्ध धर्म सर्वसाधारण की समानता और प्रजातन्त्र के जन्म का कारण हुआ होगा।) ये चक्रवर्ती अशोक के शिलालेख और चरित्र बौद्धग्रन्थों में पाये जाते हैं, किंतु ब्राह्मणग्रन्थों में उसका नाम भी नहीं है। (कोई बतावे तो अशोक के पीछे के ब्राह्मणग्रन्थ कौन से हैं?) उसने ब्राह्मणों का भूसुर होना मिटाया था। धर्म-विषय में प्रोफेसर साहब कहते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजा का धर्म नहीं है, किंतु ब्राह्मण प्रजा पर जो धर्म चिपकाना चाहते थे वही धर्म लिखा है, ब्राह्मणेतरों के साहित्य में वैदिक देवताओं की ओर अधिक खर्च करानेवाले यज्ञों की चर्चा नहीं है। (यूरोपीय आचार्य मान बैठे हैं कि ब्राह्मण-शत्रुओं का कहा सत्य है और ब्राह्मणों का मिथ्या। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि ब्राह्मणों ने ईर्ष्या वा घृणा से बौद्धों का वा प्रजा का विश्वास नहीं वर्णन किया, वैसे ही यों क्यों नहीं कह सकते कि बौद्धग्रन्थ-लेखकों ने ईर्ष्या से वास्तव-धर्म का अपलाप किया?) यज्ञों के अधिक व्ययशाली होने से तप अर्थात् आत्मयज्ञ की सृष्टि हुई। (नहीं, बौद्धों से सैकड़ों वर्ष पहले उपनिषदों में यह हो चुकी थी।) ब्राह्मणों का आदर था, किंतु उतना न था जितना वे बताते हैं। उस समय श्रमण और परिव्राजक भी हो गये थे, जिनका आदर ब्राह्मण से कम न था और इस लड़ाई से निराश होकर ब्राह्मणों ने आश्रम-कल्पना की, जिससे बिना गृहस्थ रहे और वृद्ध हुए कोई मनुष्य परिव्राजक न बन सके। उन्होंने और जातियों को भी संन्यास से रोका, किंतु उनकी चली नहीं। ब्राह्मणों के ग्रन्थों में लिखा मिलता है कि आश्रमधर्म का पालन होता था, किंतु वे सत्य बात नहीं कहते, जैसा उनकी बुद्धि में होना चाहिए वैसा कहते हैं। (आश्रमधर्म बौद्धों से बहुत पूर्व बन चुका था, आश्रम की कैदों से बचने के लिए ही तो बौद्ध परिव्राजकों ने सुगम उपाय निकालकर ब्राह्मण-भिक्षुओं का अनुकरण किया था।)

कनिष्क के उत्तर-कोशल, मगध, वत्स, अवन्ती ये तो मुख्य राज्य थे, बाकी उत्तर भारत में कुल 16 छोटे-छोटे राज्य थे, जिनमें परस्पर सम्बन्ध और विग्रह होते रहते थे और कहीं-कहीं प्रजातन्त्र भी था। आर्यों का आगमन पंजाब से गंगा के किनारे-किनारे हुआ। किंतु सिंधु के किनारे उज्जैन तक और तराई में होकर तिरहुत तक भी आर्यों की गति हुई थी। दाक्षिणात्य में बहुत कम आर्य थे। पहाड़ी आर्य धर्म और शासन में स्वतन्त्र प्रकृति के थे और अनार्यों में भी शान्ति और सामाजिक बंधन विद्यमान थे। ग्राम-गोष्ठ या ग्राम-संघ ही हिन्दुओं की प्रधान चाल थी। गाँव की चरागाह सर्व साधारण की सम्पत्ति थी और सिंचाई भी मिलकर होती थी। गाँव से बाहर जमीन बेची व रेहन नहीं की जाती थी। स्त्रियों की भूषण आदि हीं सम्पत्ति थी और माता से दायभाग भी मिलता था। सहभोजन और सहविवाह के नियम दृढ़ थे (अर्थात् जातिबंधन था)। राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चांडाल, पुक्कस यों जातिभेद था। कई क्षत्रिय अनार्य भी थे। जातियों में भेद, (आपत्काल होने से) कर्म का परिवर्तन भी होता था और उच्च जातियों में अनुलोम प्रतिलोम विवाह होने पर भी सन्तान 'ब्राह्मण' वा 'क्षत्रिय' ही रहती थी। (हैं !) बुद्ध के संवादों में जन्माभिमान की निन्दा की गई है। (इससे तो जाति दृढ़ हुई !) ब्राह्मणों ने अभी क्षत्रिय से ऊपर होने और भू-देव कहाने की हिमाकत नहीं दिखाई थी। (यह 'हिमाकत' बहुत पहले से थी और बौद्ध-धर्म इसी को तोड़ना चाहता था !) जाति के लिए कोई शब्द ही नहीं है। रोमन और ग्रीक लोगों में यदि जाति-भेद होता तो भारतवर्ष में भी उस समय होता। (वदतोव्याघात – बौद्ध-धर्म क्या तोड़ना चाहता था? क्या जाति-धर्म बौद्धों के पीछे जम सका?) नगरों में प्राकार होते थे। घरों में दालान, कोष, अन्नागार, कोष, मोरी प्रभृति का पता है। शवदाह के अतिरिक्त उनका वनों में पक्षियों के भोजनार्थ त्याग भी होता था। नाव, गाड़ी से व्यापार, किराये की पुलिस और ताँबे के प्राइवेट सिक्कों से व्यापार भी पाया जाता है। चांदी के राजनियमिंत सिक्के न थे (वाह !)। व्यापारी, व्यापार, विज्ञापन और मोहरमात्र में लेख का प्रयोग, विद्या का कंठ से ही पढ़ा-पढ़ाया जाना, साधु परिव्राजकों के आदर का वर्णन करके 'ईसा की षष्ठ शताब्दी में भारतवर्ष' का यह चित्र समाप्त होता है।

उन्नतिमत्त पाश्चात्य अपनी दशा को और देशों के इतिहास में पढ़ने का उद्योग करते हैं। यूरोपीय क्लर्जी ने राजाओं पर पीछे प्रभाव डाला और उनके राजाओं के बीच इस बात पर लड़ाइयां हुईं, यह बात भारतवर्ष में ढूँढना चाहते हैं। अपनी छठी शताब्दी की सभ्यता से बढ़कर सभ्यता यहाँ नहीं दिखाना चाहते। और, ब्राह्मण तो गालियाँ देने को हैं ही।

(प्रथम प्रकाश : समालोचक : अक्तूबर-नवम्बर, 1903 ई.)

24

विवाह की लाटरी

विवाह एक लाटरी है। 'गाय-बजायकर', 'आँख मूंदकर', काठ में पांव दिया जाता है। आगे चलकर किसी को वह काठ सोने का कंकण बन जाता है, किसी को काठ ही बना रहता है, किसी को लोहे की बेड़ी और किसी को जलते अंगारों की माला बन जाता है। दो न्यारे दृश्यों को मिलाकर एक बनाने का काम है, तभी तो वेद कहता है कि एक पेट की जन्मी हुई बहन तो दूसरे की बनती है और नई, न जानी-सुनी और ही स्त्री बनकर भाई की हो जाती है। इस लाटरी में कुछ समझ लगाने का जतन सभी करते हैं, करते आये हैं, करते रहेंगे। जैसे शब्दों से शब्दों का व्याख्यान होता है, प्रश्न से प्रश्न सुलझता है और पहेली से पहेली, वैसे एक लाटरी में दूसरी से परीक्षा की जाती है। पुरुष या स्त्री अपने होनहार जोड़े को अपने ही आँख, कान या मन से परखना चाहता है। आप न कर सके तो मित्रों की सहायता लेता है। जैसे अर्जी देने वाले सर्टिफिकेट देखकर चुने जाते हैं, वैसे जोड़े के माता-पिता, कुल, लक्षण और प्रसिद्धि जाँची जाती है। अपने सिर का भरोसा न हो तो माता-पिता पर लाटरी का टिकट डालना छोड़ा जाता है। नाई और पुरोहित भी इस जुए में मध्यस्थ बनते हैं। जमीन पर के सहायकों के भरोसे न रहकर तारों और ग्रहों की सहायता भी ली जाती है कि इस फाटक या सट्टे का ठीक अंक वे ही बतला दें। वर्ण, वश्य, तारा, योनि, ग्रहमैत्री, भकूट, नाड़ी – क्या-क्या जाल बिछाये गये हैं कि जो मछली हम चाहते हैं, वह ही हाथ लगे ! मनुष्य और अमनुष्य, पृथ्वी और ग्रह सबकी सहायता लेने पर भी लाटरी लाटरी ही बनी रही। वश्य होने पर भी वश नहीं रहती, ग्रहमैत्री होने पर भी गृह में दोष हो जाता है, भकूट के रहते भी कुटाई होती है और नाड़ी मिलने पर भी नारी अनाड़ी के हाथ लग जाती है।

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, 1920 ई.)

25

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ

लक्षणे जायापत्योष्टक् (3 ।2 ।52) जायघ्नस्तिलकालकः। पतिघ्ना पाणिरेखा (पाणिनि और पतंजलि)। उस समय भी हाथ की रेखा और तिल देखकर भविष्य कहनेवाले लोगों की चलती थी। ये लक्षण देखे और परखे जाते थे।

कई गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों ने कन्या के लक्षण गिनाये हैं। ऐसे बाल हों, ऐसी आँखें हों, ऐसा रंग हो, यह रोग न हो, वह न हो जैसे भौरियाँ देखकर घोड़े लिये जाते हैं, या जैसे सुधाकर जी की रामकहानी में हाथियों की जातियाँ गिनाई गई हैं; वैसे न गिनाकर भारद्वाज शाका वाले कहते हैं – लक्षण तो बहुत सारे होते हैं। पर लक्षण-विद्या को जानने वाले एक श्लोक पढ़ा करते हैं, वह यह है –

यस्यां मनोऽनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते।
तां विद्यात् पुण्यलक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यति।
(जिस्में मन रमै जाके जिसमें जा आँख भी लगै।
उसे सुलक्षणा जानो, ज्ञान में क्या धरा हुआ ?)

वाह भारद्वाजो ! किं ज्ञानेन करिष्यति ! क्या कहने हैं ! ! उस समय ये स्वतन्त्र विचार ! ! ! दूसरी शाखा वालों ने तुम्हें 'नास्तिक' कहकर तुम्हारा हुक्का-पानी तो बन्द नहीं कर दिया था ?

'भारद्वाज गृह्यसूत्र' की सम्पादिका श्रीमती हेनरिएट जे. डब्ल्यू. सालोमन्स, लिट्.डी. के हम गुण गाते हैं कि उन्होंने हालैंड के लीडन नगर में यह पुस्तक छपवाया। यदि एक बात में हम डाक्टरनी हैनरिएट से सहमत नहीं है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम कृतघ्न हैं, या दान के घोड़े के दाँत देखते हैं। श्रीमती कहती हैं कि दोनों प्रकरण पीछे से गढ़े हुए हैं। पहले में तो रचना का ढीलापन बताकर श्रीमती कहती हैं कि प्रजा (सन्तान) का 'प्रज्ञा' बन गया है और दूसरे पर फरमाती हैं कि किसी मसखरे ने पीछे से मिला दिया है। श्रीमती इस बात पर चौंक उठी होंगी कि असभ्य हिन्दुओं के यहाँ, धर्म के मारे हिन्दुओं के यहाँ – इतने पुराने समय में यह ख्याल कहाँ से आया कि साथ रहने के लिए प्रज्ञा जरूरी है, और यह आजादी कहाँ कि लक्षण ताक पर रखकर बीसवीं सदी की तरह जहाँ मन रम जाय और आँख लड़ जाय, वहीं ब्याह कर लो ! उस समय भी मनुष्य थे, भला-बुरा समझते थे, सूझ और उपज भी रखते थे, पुरुषों को विचारों की स्वतन्त्रता का अमर्ष हो तो हो, स्त्रियों को भी वह हो गया ! बकौल 'मृच्छकटिक' के 'चारुदत्त' के –

यदि गर्जति वारिधरो, गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
आयि विद्युत ! प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ?
(बादल गर्जे, गर्जो, होते हैं, पुरुष प्रकृति के निष्ठुर।
क्यों बिजली ! तू भी क्या, नारी-सन्ताप जान नहीं सकती ?)

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, 1920 ई.)

26

ढेले चुन लो

शैक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक 'मर्चेंट आफ वनिस' में पोर्शिया अपने वर को बड़ी सुन्दर रीति पर चुनती है। बबुआ हरिश्चन्द्र के 'दुर्लभ बन्धु' में पुरश्री के सामने तीन पेटियाँ हैं – एक सोने की, दूसरी चाँदी की, तीसरी लोहे की। तीनों में (से) एक में उसकी प्रतिमूर्ति है। स्वयंवर के लिए जो आता है। उसे कहा जाता है कि इनमें से एक को चुन ले। अकड़बाज सोने को चुनता है और उलटे पैरों लौटता है। लोभी को चाँदी की पिटारी अँगूठा दिखाती है। सच्चा प्रेमी लोहे को छूता है और घुड़दौड़ का पहिला इनाम पाता है। ठीक ऐसी ही लाटरी वैदिक काल में हिन्दुओं में चलती थीं। इसमें नर पूछता था, नारी को बूझना पड़ता था। स्नातक विद्या पढ़कर, नहा-धोकर, माला पहनकर, सेज पर जोग होकर किसी बेटी के बाप के यहाँ पहुँच जाता। वह उसे गौ भेंट करता। पीछे वह कन्या के सामने कुछ मट्टी के ढेले रख देता। उसे कहता कि इनमें से एक उठा ले। कहीं सात, कहीं कम, कहीं ज्यादा। नर जानता था कि ये ढेले कहाँ-कहाँ से लाया हूँ और किस-किस जगह की मट्टी (मट्टी) इनमें है। कन्या जानती न थी। यही तो लाटरी की बुझौवल ठहरी। वेदि की मट्टी, गौशाला की मट्टी, खेत की मट्टी, चौराहे की मट्टी, मसान की धूल – कई चीजें होती थीं। बूझो मेरी मुट्ठी में क्या है – चित्त या पट्ट? यदि वेदि का ढेला उठा ले तो सन्तान 'वैदिक पण्डित' होगा। गोबर चुना तो 'पशुओं का धनी' होगा। खेत की मट्टी छू ली तो 'जमींदार पुत्र' होगा। मसान की मट्टी को हाथ लगाना बड़ा अशुभ था। यदि वह नारी ब्याही जाय तो घर मसान हो जाय – जनम भर जलाती रहेगी। यदि एक नर के सामने मसान की मट्टी छू ली तो उसका यह अर्थ नहीं है कि उस कन्या का कभी ब्याह न हो। किसी दूसरे नर के सामने वह वेदि का ढेला उठा ले और ब्याही जाय। बहुत से गृह्यसूत्रों में इस ढेलों की लाटरी का उल्लेख है – आश्वलायन, गोभिल, भारद्वाज सभी में है। जैसे राजपूतों की लड़कियाँ पिछले समय में रूप देखकर, जस सुनकर स्वयंवर करती थीं, वैसे वैदिक काल के हिन्दू ढेले छुआकर स्वयं पत्नीवरण करते थे। आप कह सकते हैं कि जन्म भर के साथ की चुनावट मट्टी के ढेलों पर छोड़ना कैसी बुद्धिमानी है! अपनी आँखों से जगह देखकर, अपने हाथ से चुने हुए मट्टी डगलों पर भरोसा करना क्यों बुरा है और लाखों-करोड़ों कोस दूर बैठे बड़े-बड़े मट्टी और आग के ढेलों – मंगल और शनैश्चर और बृहस्पति – की कल्पित चाल के कल्पित हिसाब का भरोसा करना क्यों अच्छा है, यह मैं क्या कह सकता हूँ? बकौल वात्स्यायन के, आज का कबूतर अच्छा है कल के मोर से, आज का पैसा अच्छा है कल के मोहर से। आँखों देखा ढेला अच्छा ही होना चाहिए लाखों कोस के तेजःपिण्ड से! बकौल कबीर के –

पत्थर पूजे हर मिलें तो तू पूज पहार।
इससे तो चक्की भली, पीस खाय संसार।

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, 1920 ई.)

27

घड़ी के पुर्जें

धर्म के रहस्य जानने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य न करे, जो कहा जाय वही कान ढलकाकर सुन ले, इस सत्ययुगी मत के समर्थन में घड़ी का दृष्टान्त बहुत तालियाँ पिटवा कर दिया जाता है। घड़ी समय बतलाती है। किसी घड़ी देखना जाननेवाले से समय पूछ लो और काम चला लो। यदि अधिक करो तो घड़ी देखना स्वयं सीख लो, किन्तु तुम चाहते हो कि घड़ी का पीछा खोलकर देखें, पुर्जे गिन लें, उन्हें खोलकर फिर जमा दें, साफ करके फिर लगा लें – यह तुमसे नहीं होगा। तुम उसके अधिकारी नहीं। यह तो वेदशास्त्रज्ञ धर्माचार्यों का ही काम है कि घड़ी के पुर्जे जानें, तुम्हें इससे क्या ? क्या इस उपमा से जिज्ञासा बंद हो जाती है ? इसी दृष्टान्त को हाथ बढ़ाया जाय तो जो उपदेशक जी कह रहे हैं उसके विरुद्ध कई बातें निकल आवें। घड़ी देखना तो सिखा दो, उसमें तो जन्म और कर्म की पख न लगाओ, फिर दूसरे से पूछने का टंटा क्यों ? गिनती हम जानते हैं, अंक पहचानते हैं, सुइयों की चाल भी देख सकते हैं, फिर आँखें भी हैं, तो हमें ही न देखने दो, पड़ोस की घड़ियों में दोपहर के बारह बजे हैं। आपकी घड़ी में आधी रात है, जरा खोलकर देख न लेने दीजिए कि कौन सा पेच बिगड़ रहा है, यदि पुर्जे ठीक हैं, और आधी रात ही है तो हम फिर सो जाएंगे, दूसरी घड़ियों को गलत न मान लेंगे, पर जरा देख तो लेने दीजिए। पुर्जे खोलकर फिर ठीक करना उतना कठिन काम नहीं है, लोग सीखते भी हैं, सिखाते भी हैं, अनाड़ी के हाथ में चाहे घड़ी मत दो पर जो घड़ीसाजी का इम्तहान पास कर आया है उसे तो देखने दो। साथ ही यह भी समझा दो कि आपको स्वयं घड़ी देखना, साफ करना और सुधारना आता है कि नहीं। हमें तो धोखा होता हैं कि पड़दादा की घड़ी जेब में डाले फिरते हो, वह बन्द हो गई है, तुम्हें न चाबी देना आता है न पुर्जे सुधारना, तो भी दूसरों को हाथ नहीं लगाने देते इत्यादि।

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अक्तूबर, 1920 ई.)

28

दूध के पैगम्बर

एक महाशय बछड़ों के हिमायती, दूध के शत्रु, अति सनातनी मिले, अति सनातनी यों कि दूध पीना, घी खाना, घी होमना सनातम धर्म है, वे उसके भी पीछे युग में जाते हैं। कहते हैं कि मनुष्य जाति का गोवंश पर परम अन्याय है कि वे बछड़ों की विरासत को छीने जाते हैं। गाय का दूध बछड़े के लिए है, बिना सींग के बछड़ों के लिए, मनु के इस कहने को कि पशु यज्ञ के लिए बनाये गये हैं और एक थन का दूध बछड़े के लिए छोड़ देव, स्वार्थ की चरम सीमा कहते हैं। यदि मनुष्य से भी बलवती कोई योनि हो और वे स्त्रियों का दूध अपने बच्चों को पिलावें और हमारे बच्चों को घास पर सन्तुष्ट करना चाहें तो मनुष्य जाति को कैसा लगे ? सुधारक महाशय का कहना है कि बछड़ों के हक का दूध पीने से मनुष्य में बैल-बुद्धि आ गई है और 'तस्मई' के प्रेमी ऋषियों को वे उसी दृष्टि से देखते हैं जिससे घास पार्टी के समाजी गृह्यसूत्रों के शून्यगव का ठीक अनुवाद करनेवाले समाजी पण्डितों को। बालशेविज्म मनुष्य जाति के आपस के अन्यायों की चर्चा करता है, यह अतिबालशेवक सुधारक मनुष्य और पशुओं के बराबरी के समय तक जाते हैं और व्रहाँ के अन्यायों की खोज निकालते हैं। इनके तर्क में कोई ननुनच की जगह नहा है, सब ठीक है। बावन तोते (तोले) पाव रत्ती पूरा नाप-जोख करा न्याय है, किन्तु इस तर्क को पीछे हटाकर मनुष्य जाति कहाँ पहुँचेगी ? परमेश्वर ने भूमि सर्पों के रहने के लिए बनाई है। उनका हक मार कर घर बनाना या खेती करना अनुचित है। फल पक्षियों के लिए बनाये हैं, उन्हें खाना तोते-मैनाओं को भूखा मारना है, ऊन भेड़ को शीत से बचाने के लिए है, उसे पहनना भेड़ को जाड़े में ठिठराना है, बलवान् या बुद्धिमान् दुर्बल या अबुद्धिमान् की चीज़ छीनता है, या सनातन धर्म यदि न माना जाय तो मनुष्य जाति न मालूम कहाँ पीछी (पीछे) चली जाय ! !

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अक्तूबर, 1920 ई.)

29

बंग का भंग

सप्त शल्यानि : "नृपांगणगत: खल:" – गत मास भारतवर्ष में घटनाओं का चक्र इस तेजी से घूम गया है कि देखनेवालों को मुँह बा कर और सिर पर हाथ रखकर उसका स्मरण करने में भी कठिनाई पड़ती है । क्या था, और क्या हो गया और उसका परिणाम क्या होगा, इसी की जाँच करने में ऐतिहासिक, कभी सही और कभी गलत, अन्दाज लगाते हैं । गत मास ऐसे कई अन्दाज टूटे हैं और कई नये अन्दाज फिर टूटने के लिये बँध गये हैं । किस प्रकार प्रजा के मत को लात मारकर और नये प्रस्ताव पर प्रजा का मत न लेकर, छिपे-छिपे ही बंगालियों की बढ़ती जातीयता के मूल में कुठार मारने वाला भंग का विचार, कर्ताओं ने ठानकर प्रजा पर डाल दिया, यह मालूम ही है । उसके पीछे मर्माहत बंगाली जाति ने गाँव-गाँव सभा करके इसका विरोध आरम्भ किया, बंगीय कौंसिल के क्या युवा, क्या वृद्ध सब ही ने इसे बंगालियों और अंग्रेजों के सदा के द्वेष को जगाने वाला कहा और इधर-उधर व्यवहार कुशलों ने विदेशी पदार्थों के त्याग और स्वदेशियों के ग्रहण का बीड़ा उठाया । इसकी परमावधि कलकत्ते के टाउनहाल और उसके उपप्लव मैदान की 20,000 मनुष्यों की सभा ने कर दी, जिसमें स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग से अनपेक्ष इंग्लैण्ड की जेब काटने और शोक की सवारी में विद्यार्थियों को लगाकर उनके उत्साहप्रिय समाज को मिलाने की दूरदर्शिता दिखाई गई । विश्वदूत रूटर की कृपा से यह कोलाहल वृथा न गया, और दो दिन पीछे ही सर हैनरी काटन के उपदेश से मि. हर्बर्ट राबर्ट ने, लिबरल नेताओं की सहानुभूति से, पार्लियामेंट में इस विषय पर विचार करने का प्रस्ताव किया । यद्यपि अनुकूल सम्मति होने से स्वीकार की आशा न थी, तो भी यदि "अपने देश के सिवा सब देशों के मित्र" पर मंचूरजी भावनगरी उलटा विरोध करके चक्षुःशूल न बनते तो अच्छा ही होता । "यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति" और बंगालियों ने अपनी भाषा के अनुसार उनका अच्छा "सत्कार" कर दिया । मि. ब्राडरिक के और कागज पार्लेमेन्ट में पेश करने के वचन पर वह प्रस्ताव पीछा लिया गया और विलायत के सभी पत्रों का ध्यान इससे बंग-विच्छेद की तरफ हो गया । सम्भव नहीं कि इस विषय में श्रीमान लार्ड कर्जन की गीशमाली न की गई हो, और ब्राडरिक महाशय इतने अनजान बने थे, मानो उन्होंने आँख मूँदकर वायसराय को प्रसन्न करने को ही बंग-विच्छेद पर सम्मति दे दी हो । भारतवर्ष के सेना-सुधार में कुछ मास पहले जैसी उनकी बात बिल्कुल न सुनी गई थी, वैसे कुछ तो उनके सान्त्वन का उपाय चाहिए ही था । परन्तु सान्त्वन से वास्तव सान्त्वन न हो सका ।

सेनापति का चक्र – यद्यपि सेनापति के नये अधिकार और सेना के नये प्रबन्ध से सारा

अधिकार और प्रताप वायसराय से प्रधान सेनापति में आ गया है, और "मुल्की लाट" केवल पति "जंगी लाट" का बिल चुकाने वाले रह गये हैं, जिससे भारतवासियों की लचकी पीठ सेना के बोझ से बहुत शीघ्र टूट जा सकती है, तो भी भारतवासी इस विषय में उदासीन थे।

पहलवानों का दंगल – तुलसीदास जी के शब्दों में, "कोउ नृप होइ हमें का हानी। चेरी छांड़ि न होउब रानी"। उन्हें सिविल एकतन्त्र से मिलिटरी एकतन्त्र केवल एक अंश ही अधिक अन्यायी जान पड़ा। सिविल एकतन्त्र कौन-सा उन्हें दूध देता था? दूसरे, जिस जाति को सदा हवलदार तक बनकर रह जाना है और जो कभी सेना के ऊँचे पदों की आशा नहीं रखती, उसे सेना के प्रबन्ध से क्या? और रूस के आक्रमण के स्ट्रेटेजी से क्या? तीसरे, उनकी दृष्टि में सेनापति और वायसराय का संगर दो लंगर बाँधे पहलवानों की कुश्ती या मुर्गों की लड़ाई थी। लोग यही जानते थे कि सेर को सवा सेर मिल गया है, लड़ाई हो रही है। विलायत में भी इस विषय का शास्त्रीय गुरुत्व जाता रहा, केवल दो प्रबल पुरुषों की टक्कर ही रह गई, जिसमें खिसियाकर लार्ड कर्जन ने इस्तीफे की धमकी दी थी। उनके यश के लिये अच्छा होता, यदि वे उस समय पृथक हो जाते।

अमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम्! – यद्यपि भारतवासी उनकी सर्वतोभद्र शक्तियों के विश्राम के लिये देवी-देवता मना रहे थे, और चाहे वे भारतवर्ष में सिविल सर्विस कराने का पक्ष लेकर इस्तीफा देते, तो भी देश उनके ठण्डे-ठण्डे जाने से प्रसन्न होता; परन्तु पीछे यदि एकतन्त्र सेनाधिकार उन्हें दुःख देता, तो वे उस वायसराय का स्मरण करते जो और बातों में दुःख देकर भी इस बात में उनका पक्ष लेता था। परन्तु श्रीमान् ने चार छोटे और निष्फल परिवर्तनों पर यह मानकर सन्तोष किया कि मिलिटरी मेम्बर अपना ही नियत करके किचनर के क्रम को अपदस्थ कर देंगे और एक वर्ष और भारतवर्ष भोग लेंगे! परन्तु श्रीमान् की गणना में अबके भूल हुई।

चुपड़ी और दो दो? – मि. ब्राडरिक ने अब के सर एडमण्ड बारो को नियत करने वा न करने का अपना अधिकार इन्हें न दिया। इस विषय का जो तार-व्यवहार छपा है, उसमें स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पार्लेमेन्ट बन्द हो जाने से निःशक मि. बालफोर और ब्राडरिक असम्भावित लार्ड कर्जन को निकालने को तैयार थे। मि. ब्राडरिक ने स्पष्ट कहा, "तुम्हारे कहने से मैंने बंग-विच्छेद मान लिया, और तुम्हारे चाहे कौंसिल के मेम्बर दे दिये, अब क्या मैं मट्टी का मम्मा हूं?"

कर्जन का तर्जन – जैसे लड्डू न मिलनें से बिगड़ैल लड़का फाँसी की धमकी देता है, वैसे ही मान्यवर ने इस्तीफे की धमकी दी। मि. ब्राडरिक तैयार थे। अपनी आस्तीन में लार्ड मिन्टो को लिये बैठे थे। झट उनको नियत करके मान्यवर के पीछे आगल ठोंक दी जिससे फिर श्रीमान लार्ड कर्जन आफ कैडलस्टन अपना मत न बदल सके।

पीतल के टुकड़े – इस घटना से सिद्ध होता है कि बाल्फोर दल के लोग कैसे पीतल के टुकड़े हैं जो अपने को सोना समझ रहे हैं। पार्लेमेंट रहते तो बालफोर और ब्राडरिक की हिम्मत नहीं हुई जो लार्ड कर्जन को पृथक् कर सकते, परन्तु उसके उठते ही उन्हें कोने में फँसाकर

इस्तीफा दिलवाकर माने। भारतवर्ष के महाराजाधिराज के प्रतिनिधि ने भी संशोधन के सार्वजनिक विषय पर तो इस्तीफा न दिया, परन्तु व्यक्तिगत सिफारिशी के नियत न होने पर पृथक् होना ठीक समझा। मच्छरों को छाना और ऊँटों को पिया। लोग आश्चर्य न करें कि लार्ड कर्जन ने शिमले की मसनद को खाली कर दिया और सूर्य अभी उदय होता ही है! प्रलयकाल के मेघ भी नहीं आये और भूकम्प भी नहीं हुआ! क्या हुआ! श्रीमान् का अधःपतन! उससे विश्व ब्रह्माण्ड को क्या? इतना अवश्य है कि ऐसा पतन ऐतिहासिक घटनाओं में विलक्षण है।

विरुद्ध धर्माश्रय – कितने विरुद्ध धर्मों का इसमें समावेश था, और कैसे एकतन्त्र स्वाधीनता के श्रीमान के मस्तक को फिर दिया था! जो स्वयं विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा का ऋणी है, वह उसके द्वार को बन्द और पढ़ाई को व्ययसाध्य करे। जो समाचार पत्रों के राजा "टाइम्स" का सम्वाददाता रहकर बढ़ा है और जिसका ढोल समाचारपत्रों ने पीटा है, वह उनकी स्वाधीनता रोके! जो व्याख्यानों में बड़ा हुआ है वह "भाषण की गुलामी" की निन्दा करे। जिसे पार्लेमेन्ट ने चढ़ाया, वह उसको तटस्थ कर देवे! जो महारानी विक्टोरिया का अन्तिम वायसराय हो वह उसके साम्यवाद के घोषणापत्र को कोड़ा समझे। जो कोरिया में परमसत्य बोल चुका है, वह एशिया के सत्य के आदर्शों को लथेड़े! जो अमेरिका के धनियों को बर्मा में खान के सुभीते दे चुका है, वह टाटा के विश्वविद्यालय की चक्की में कंकर डालै! राजाओं ने जिसके पारिवाश्र्वक बनकर "उधानपाल सामान्यं" शोभा बढ़ाई उनके अधिकारों को वही कम करे और उन्हें रेजीडेंटों की गुड़िया बनावै! जिसने यूरोपीयनों का रजवाड़ों में जमना बुरा समझा, वही उनके लिये नये-नये पद बनावे! जिसको बंगाली पण्डितों ने श्लोक पढ़-पढ़कर आशीर्वाद दिये, वही बंगाल का बलिदान करे! जिसने सर फीरोजशाह को के.सी.एस.आई. दी, वही यूनिवर्सिटी वैलिडेशन एक्ट पास करे! जो चेम्बर आफ कामर्स से दावत में मिला, वह सर हैनरी काटन से कांग्रेस के प्रस्ताव न ले! जो प्रोटेक्शन का विरोधी था, वह देश की कलाओं को न बढ़ावे! जो सोमालीलैण्ड और ट्रान्सवाल में भारत की सेना का व्यय न देता था, वही सेना के व्यय को बढ़ावे और सेनापति की उद्दण्डता को दबाने में वही दुर्बल हो जाये, जो विश्वविद्यालय ऐक्ट और बंग-भंग में सहस्रबाहु था।

पहले-पहले श्रीमान् के भाषणों से और कार्यों से भारतवासियों को आशा हुई थी कि रिपन का भाई आया, और राजाओं ने समझा कि हम पर विश्वास करनेवाला आया। परन्तु वह संस्कार मिट गये। भारतवर्ष यदि श्रीमान् का किसी बात में ऋणी है तो कुछ कर घटाने और पुरानी इमारतों की रक्षा का और नहीं तो पीछे ढकेले जाने का। परन्तु सारी प्रजा के विरुद्ध मत को जानकर भी श्रीमान् दूसरी दफ़ा भारतवर्ष में आये और रत्न से जुगुनू बनकर, और अपने यश को नष्ट करके, सेनापति के हाथों से "अपवादैरिवोत्सर्गाः" बन गये।

सायंकाल का उपस्थान – एक मारवाड़ी पत्नी ने अपने पति को कहा था, "साजन! तुम बहुत लायक हो, मुझे तो तुम्हारे साथ यह मिला कि जो घर में नहीं था, वह तो आप लाये नहीं और जो था वह खो दिया।" सम्भव है कि कुछ वर्षों पीछे भारतवर्ष आपको भूल जाय, किन्तु अभी तो –

पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे, निकृन्तन्मर्माणि क्रक च इव मन्युर्विगलति

तिसकूं विअ अन्तराले चिट्ठ ! – चाहे खुशामदी लोग श्रीमान् को विदाई के तार दें, और बम्बई ही नहीं, अदन तक पहुँचाने जावें, परन्तु देश का मत श्रीमान के विषय में यही है कि श्रीमान् को शीघ्र ही विदाई न मिल गई और उनकी सर्वतः पाणिपाद शक्ति बंगाल के भेदन से बाज न आई। पुराणों में जैसे पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में लटकते त्रिशंकु की राल कर्मनाशा से अंग को अपवित्र कर गई वैसे श्रीमान् ने भी 1 सितंबर को बंग-विच्छेद की घोषणा कर दी।

"मुर्गे विस्मिल ! मत तड़प, यां आँसू बहाना है मना !" जब मि. ब्राडरिक पार्लेमेंट को और कागज़ात पेश करने का वचन दे चुके हैं, तब इस शीघ्रता का करना न्याय है या नहीं, यह विचारणीय है। जैसे तिब्बत मिशन में सरकारी आज्ञा का पालन न करने पर श्रीमान् के लत्ते लिये गये थे, वैसे मि. ब्राडरिक फरवरी में इस विषय में कुछ करेंगे या नहीं, यह प्रश्न है।

आइए !

स्थाविर लार्ड मिन्टो भारतवर्ष में आते हैं और भारतवर्ष में उनका स्वागत है। बुढ़ापा बुद्धि का पिता है। और आशा है श्रीमान् शीघ्र ही आकर श्रीमान् युवराज के पथदर्शक बनेंगे क्योंकि जब तक वे नहीं आते तब तक यही न रह जायें, यह डर लगा हुआ है। जैसे श्रीमान् के पूर्वज गवर्नर जनरल ने बिना एक गोली बरसाये, नैपोलियन के आक्रमण का भय हटाया था, वैसे श्रीमान् भी क्या उपचीयमान् सेना व्यय के कारण रूस के भकोओं को सदा के लिये शान्त न कर देंगे ?

स्वदेशी आन्दोलन – बंग देश में कोलाहल के साथ-साथ स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार का आन्दोलन फैलता जाता है। गाँव-गाँव में सभा होती है। बड़े-बड़े जमींदारों ने स्वयं कलें खोलने की प्रतिज्ञा की है। मैनचेस्टर के माल को फैलाने के पाप का प्रायश्चित मारवाड़ियों ने बुरी तरह भोग लिया है और उन्हें अच्छी हानि उठानी पड़ी है। अब वे बंगालियों के साथ ही रहें, इसमें कल्याण है। मैनचेस्टर वालों ने निर्द्वन्द्व बनकर उन्हें जो आन्दोलन न करने का उपदेश दिया है, उसे पढ़कर हँसी आती है। चाहे मैनचेस्टर की जेब कटने से इंग्लैण्ड वाले ध्यान दें, चाहे न दें, स्वदेशी आन्दोलन देश भर में व्याप्त होना चाहिए। बंगाली पण्डितों ने शास्त्रों में से स्वदेशी वस्तुओं के श्लोक खोजना आरम्भ किये हैं और अपने शिष्यों के नाम आज्ञा-पत्र लिखे हैं। यह नई व्यवस्था है। क्या अच्छा हो, यदि कुछ पण्डित विदेश-यात्रा के भी यों ही प्रमाण ढूँढ़ दें जिससे "श्री वेंकटेश्वर समाचार" का तो मुँह बन्द हो ! सारे भारतवर्ष में यदि चार-पाँच महीने भी स्वदेशी आन्दोलन का स्वस्ति-वाचन हो जाय तो इतनी उदासीनता न रहे और राजनैतिक क्षेत्र में ही वचनबहादुर न कहलाकर हम कर्म-क्षेत्र में ही कुछ कर सकने वाले कहला जायें।

एकाक्षर प्रचार – इसी जातीयता का लक्षण और भारतव्यापी नई जागने वाली सहानुभूति का निदर्शन, भारतवर्ष में एकाक्षर प्रचार का काम भी गत मास अग्रसर हुआ है। समानकाल में बंगाली और गुजराती साहित्यकारों में आन्दोलन उठा और मानीय जस्टिस शारदाचरण मित्र की अध्यक्षता में एक प्रभावशाली समाज कलकत्ते में देवनागरी प्रचार के लिये कायम हो

गया है। यदि पाँच भाषाओं में एक पत्र न निकालकर, हिन्दी के साथ और भाषाओं के पत्र द्वैभाषिक बनें, तो अच्छा। हिन्दी प्रान्तवाले इस विषय में चुप हैं, उन्हें कुछ करना चाहिए। स्वयं अग्रणी होने का हठ छोड़कर पीछे काम करने वाले भी अच्छा कर सकते हैं। जापान के देवनागरी लिपि के स्वीकार पर अधिक हल्ला नहीं करना चाहिए। जापान अपना सुभीता स्वयं जान सकता है, हम उसके गुरु बनने योग्य नहीं हैं। अन्तर्जातिक व्यवहारों में जापान को (और हम को भी) अंगरेजी अधिक काम देगी और विजातियों की देवनागरी लिपि का उपयोग – जिसकी वे स्वयं भी सेवा नहीं करते – करने की अपेक्षा जापान में अधिक बुद्धि है !

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, 1905 ई.)

30

संस्कृत की 'टिपरारी'

योरोप के वर्तमान युद्ध में टिपरारी ने खूब नाम पाया। आयरलैण्ड के एक कोने में टिपरारी नामक एक न-जाना-सुना गाँव है। किसी दिलजले कवि ने उसे एक गीत में अमर कर दिया है। गीत में टिपरारी-निवासी किसी कल्पित ग्रामीण का भोलापन और देश-प्रेम दिखाया गया है। परन्तु जैसे तुलसीदास जी ने साबर-मन्त्रों के लिए कहा है कि 'अनमिल आखर अर्थ न जापू। प्रकट प्रभाव महेस प्रतापू' वैसे ही अंग्रेज सिपाही लाम में इस व्यंग्मय गीत को गाकर बहुत आश्वासन पाते हैं। जहाँ थकावट और घबराहट के बादल उनके प्रसन्न मुखों पर छाये कि टिपरारी की धुन ने उन्हें चौगुना चमका दिया। इस युद्ध में टिपरारी पर और भी शान चढ़ी,– फ्रेंच में, जर्मन में, हिन्दी में, उर्दू में उसके अनुवाद हुए। हमारे जवान भी 'कद्दू मज़ेदार'[1] और 'बलूची जालमा' की जगह उसे अलापने लगे। अंगरेज-सिपाही किस प्रकार हँसता-खेलता मृत्यु के मुख में धँस जाता है, किस प्रकार कमर-कमर भर कीच में वह ठट्टा करता रहता है, इसका मानो टिपरारी विज्ञापन हो गया, मन्त्र हो गया। टिपरारी के शब्द और अर्थ का विचार करके आज यह दिखाना है कि इससे मिलता हुआ भावमय काव्य हमारे यहाँ भी है।

टिपरारी का गीत यह है –

1. Up to mighty London came
An Irishman ove day.
As the streets were paved with gold
Sure everyone was gay.
Singing songs of piccadilly
Strand and Leister-square
Till Paddy got excited
Then he shouted to them there;
It's a long way to Tipperary
It's a long way to go
It's a long way to tipperary
To the sweetest girl I know.

---

1. देखें : उसने कहा था : इसी ग्रंथ का पृष्ठ 87

Goodbye Piccadilly
Farewell, Leister-square
It's a long, long way to Tipperary
But my heart's right there.

2. Paddy wrote a letter to
his Irish Molly o
Saying should you not receive it
Write and let me know.
If I make mistakes in Spelling
Molly dear, said he,
Remember it's the pen that's bad
Don't lay the blame on me
It's a long way etc.

3. Molly wrote a neat reply
To Irish Paddy o
Saying Mawklin wants
to marry me and so
Leave the Strand and piccadilly
Or you will be to blame
For love has fairly drove me silly
Hoping you are the same.
It's a long way.

जरा इसके भाव को देखिए। जैसे हमारे यहाँ शिकारपुर के या भोगाँव के या बदायूं के भोले सरदार प्रसिद्ध हैं, वैसे अंगरेजी-साहित्य में आयरलैण्ड के निवासी 'पैडी' के उपनाम से बनाये जाते हैं। एक दिन पैडी लन्दन-महानगर में आया। कलकत्ते में एकदम पहुँचनेवाले भोजपुरिये और बम्बई में अचानक आ धमकने वाले मारवाड़ी की तरह वह भौचक रह गया। वहाँ की सड़कें मानो सोने से मढ़ी हुई थीं, सब लोग प्रसन्न थे और पिकाडिली के जौहरी बाजार, स्ट्रैंड के मोती-कटरे और लीस्टर-स्क्वायर के मानिक चौक के सब गीत गा रहे थे। पैडी साहब को भी जोश आ गया और आप चिल्ला उठे – "मेरी टिपरारी बहुत-बहुत दूर; बहुत ही दूर है। मेरी प्रियतमा के पास टिपरारी जाना यहाँ से बहुत ही दूर पड़ता है। पिकाडिली, सलाम और लीस्टर-स्क्वायर, नमस्कार। टिपरारी बहुत ही दूर है, पर मेरा हृदय वहीं है।"

चमत्कार यह है कि लन्दन के ऐश्वर्य के आगे भी वह अपने छोटे-से गाँव और वहाँ पर

अपनी परिचिता सुन्दरी की धुन में रमा हुआ कहता है कि मेरा हृदय वहीं है।

दूसरी कड़ी का विरोधात्मक हास्य देखिए। पैडी ने अपनी आयरलैण्ड निवासिनी प्रेयसी मौली को पत्र लिखा कि यदि तुम्हें यह पत्र न मिले तो लिख कर मुझे सूचना देना ! यदि मेरे लेख में कोई अशुद्धि हो तो याद रखना कि कलम खराब है (आँगन टेढ़ा है) मुझे दोष न देना ! !

तीसरी कड़ी में मौली का उत्तर बड़ी सफ़ाई से दिया गया है। वह कहती है कि तुम्हारे यहाँ से चले जाने पर दूसरों की बन आई है। माकलिन मुझसे विवाह करना चाहता है। इसलिए स्ट्रैंड और पिकाडली को छोड़ कर चले आओ, नहीं तो सब दोष तुम्हारे सिर रहेगा, क्योंकि प्रेम मे मुझे पागल कर रक्खा है और (जैसे चिट्ठियों में कुशल-समाचार लिखते हैं) आशा है कि तुम भी वैसे ही होगे ! ! !

इसके पीछे क्या हुआ, यह गीत में नहीं। मौली और टिपरारी का दोहरा आकर्षण पैडी को लन्दन की सुवर्ण-वीथिका (सोनागाछी नहीं) से खींच ले गया होगा और हिन्दी के एक पुराने भावमय गीत के अनुसार –

कब ऊगेगो सुक्र ? चले चओ
गोरी ने डोला कसवायो रसिया ने सिकल कर्यो भालो ॥

(2)

महाभारत का युद्ध हो रहा है। भीष्म और द्रोण मर चुके हैं। कर्ण बड़े अभिमान के साथ सेनापति बन कर अर्जुन से लड़ने चले हैं। मद्रराज शल्य इस शर्त पर उनका सारथि बना है कि मैं जो चाहूँ सो कर्ण को सुना दूँ। कर्ण ने युद्धक्षेत्र में आते ही डींग मारना आरम्भ किया। कहता है कि अब अर्जुन और कृष्ण मरे। मुझे कोई अर्जुन को दिखा तो दे। मैं दिखानेवाले को छै हथिनियोंवाला सोने का रथ दूँ, गले में सोना पहने हुए दासियाँ दूं, चौदह वैश्यग्राम – मारवाड़ी सेठों का गाँव (इसका स्वारस्य शेखावाटी के ठाकुरों से पूछना चाहिए) – दे दूँ। यों ही वह शेखी बघारता गया। शल्य ने उसे झिड़कना शुरू किया। शल्य कहता है कि जो तेरे पास इतना रुपया है तो यज्ञ क्यों नहीं करता ? क्या तुझे इस तरह मृत्युमुख में जाने से रोकने वाला मित्र नहीं ? माता की गोद में पड़ा-पड़ा तू चन्दखिलौना माँगता है ! क्या कभी गीदड़ ने शेर को मारा है ? हंस की चाल चलनेवाले कौवे की तरह ही तेरी दुर्गति होगी !

कर्ण को क्रोध आ गया। एक तो ऐसी झिड़क दूसरे शाप की झिड़क सुनते ही तू निस्तेज हो जायेगा। शल्य पहले यह प्रतीक्षा करा कर सारथि बना था कि जो चाहूँ सो कह लूँ। अब कर्ण ने जले दिल से शल्य को बुरा-भला कहना आरम्भ किया। शल्य मद्रदेश का राजा था। मद्र पश्चिमी पंजाब है, जहाँ उस समय वाहीक नामक अनार्य जाति आ बसी थी। पाणिनी के समय में भी व्यास नदी के उत्तर तट पर वाहीकों के ग्राम और कूप बन गये थे। वाहीकों के रीति-रिवाज से कुरुक्षेत्र और आर्य्यावर्त के निवासी बहुत घिनाते थे। मद्र और वाहीक की उस

समय वही प्रसिद्धि थी जो तुलसीदास और कबीर के समय मगह (मगध) की थी। कर्ण ने कई अध्यायों में वाहीकों की बुराई की है; उनका खाना, पहनावा, स्त्रियों का व्यभिचार, अधर्म सब कुछ बखान कर शल्य को गालियाँ दी हैं कि ऐसे पापियों का तू षष्ठांशभोगी राजा है ! शल्य से चिढ़ कर उसके देशवासियों को गाली देना कोई तर्क तो नहीं, पर क्रोधी कहाँ तर्क की परवा करता है ? शल्य चुपचाप इन कुवाच्यों को पीता गया। उसने कर्ण के देश के लिए कुछ भी न कहा। पर कर्ण की वीरता पर वह गीला कम्बल डालता गया और उसे बकने दिया। उसका उद्देश सिद्ध हो रहा था। भर्त्सना से कर्ण की वीरता पानी-पानी हो रही थी और शाप का प्रभाव चढ़ रहा था। केवल अन्त में शल्य ने कहा – "कर्ण, तुम्हारे अङ्ग देश में भी आतुरों को मरने के लिए छोड़ देते हैं और स्त्रियों तथा पुत्रों को बेच दिया करते हैं; प्रत्येक देश में सदाचार और दुराचार होते हैं। इससे क्या ?"

जो हो, अपनी जलन में कर्ण ने जो वाहीकों के आचरण का चित्र खींचा है, वह बड़ा ही ओजस्वी है और ऐतिहासिक मूल्य रखता है। समाज-वर्णन के ये तीन-चार अध्याय महाभारत के समुद्र में भी अनूठे रत्न हैं। जगह-जगह पर कर्ण ने कुरुराज धृतराष्ट्र के दरबार में आये हुए प्रवासी ब्राह्मणों और वाहीकों की गाथाएं उद्धृत की हैं। ये गाथाएं समाजचित्रण की दृष्टि से बड़े महत्व की हैं। कुछ तो उनमें इस ढंग की हैं जैसे – "रांड सांड सीढ़ी संन्यासी। इनसे बचे तो सेवै कासी", "जाय कलकत्ते + + खाय अलबत्ते", "जाय कुल्लू, हो जाओ उल्लू", "गये चम्बा, बड़ा अचम्भा" – इत्यादि। इन संक्षिप्त लोकोक्तियों में जन-समाज के मत का जो चित्रण है, वह कितने स्वारस्य से भरा हुआ है। कर्ण की गाथाओं में से कुछ गाथाएं ये हैं –

1. मद्रदेश की स्त्री से यदि कांजी माँगो तो वह जांघें समेट कर कहती है कि मैं अपने बेटे को दे दूँ, पति को दे दूँ, पर कांजी न दूँ।

2. युगन्धर (देश) में जल पीकर, अच्युत-स्थल में रहकर और भूतलय में नहाकर भला कहीं स्वर्ग को जा सकता है ?

3. गोवर्धन नामक बड़ और सुभाण्ड नामक शहर ये दोनों कलि के द्वार हैं, यह मैं लड़कपन से सुनता आया हूँ।

4. वाल्हीक पृथ्वी के मैल हैं।

5. वाल्हीका और हीक बिपाशा में दो पिशाच थे। वाहीक उनके पुत्र हैं; प्रजापति की सृष्टि ही नहीं !

6. वहाँ ब्राह्मण क्षत्रिय हो जाता है; क्षत्रिय वैश्य, शूद्र होकर नाई हो जाता है; नाई फिर ब्राह्मण हो जाता है !

7. बिच्छू का विष उतारने के लिए और राक्षस का आवेश मिटाने के लिए वाल्हीकों के पाप की दुहाई दी जाती है।

जिन गाथाओं में वाल्हीक-स्त्रियों के दुराचार का वर्णन है उनका अनुवाद करना उचित नहीं।

(3)

खैर, उन गाथाओं में एक गाथा है –

(तासां किलावलिप्तानां निशन् कुरुजाङ्गले ।
कश्चिद् वाल्हीकदुष्टानां नातहृष्टमना जगो)
न नूनं बृहती गौरी सूक्ष्मकम्बलवासिनी
मामनुस्मरती शेते वाल्हीकं कुरुवासिनम्
शतुद्रुं नु कदा तीर्त्वा तां च रम्यामिरावतीम्
गत्वा स्वदेशं द्रक्ष्यामि स्थूलजङ्घाः शुभाः स्त्रियः ?
मनःशिलोज्ज्वलापङ्ग्यो गौर्यस्ताः काकुकूजिताः
कम्बलाजिनसंवीता रुदन्त्यः प्रियदर्शनाः ।
मृदङ्गानकशरङ्खनां मर्दलानाञ्चनिःस्वनैः
खरोष्ट्राश्वतरैश्चैव मत्ता यास्याम हे सुखम् ।
शमीपीलुकरीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु
अपूपान् सक्तुपिण्डांश्च प्राश्नन्तो मथितान्वितान् ।
पथिषु प्रबलो भूत्वा तथा सम्पततोऽध्वगान्
चेलापहारं कुर्वाणास्ताडयिष्याम भूयसः ।

कोई प्रवासी वाल्हीक कुरुक्षेत्र में आया हुआ है । प्रवासी को आर्यभूमि का चमत्कार लुभा नहीं सका । वह अपने देश की स्त्रियों को याद करके गा रहा है – हाय, अवश्य वह बृहदाकार और गौर शरीर वाली स्त्री, बारीक पशमीना पहने हुए मुझ कुरुदेश-प्रवासी वाल्हीक की याद करती हुई सो रही होगी (इधर की स्त्रियाँ ठिंगनी और सांवली और सूती कपड़े पहनने वाली; पेशावर की तरफ की स्त्रियाँ अब भी बृहती, गौरी और सूक्ष्म कम्बलवासिनी !) कब मैं सतलज को पार करके, और सुन्दर रावी को लांघकर स्वदेश पहुँचूगा और कब सुन्दर, मोटी जांघोंवाली, मनःशिला की-सी उज्जवल कनखियोंवाली, गोरी सदा मोड़ के लटके से बोलनेवाली, कम्बल और मृगचर्म पहने हुए, मेरे वियोग में रोती और प्रियदर्शन स्त्रियों को देखूँगा ? (इतने में उसको अपनी प्यारी जन्मभूमि का स्मरण आ गया) ढोल, नगारे, शंख और मर्दल बजते जायेंगे, और मतवाले होकर हम गधों, ऊँटों और खच्चरों पर चढ़े-चढ़े चले जायेंगे ! वहाँ शमी, पीलु और करीर के जंगल हैं । हमारे लिए मार्ग बड़ा सुखदायक है ! वहाँ हम मट्ठे के साथ पूए और सत्तू के लड्डू खाते जायेंगे और राह चलते हुए मुसाफिरों के कपड़े तक उतारकर उन्हें खूब लूटेंगे, मारेंगे !

कितना भावमय वर्णन है । अर्धसभ्य जाति के देश-प्रेम, भोजन, बिहार और व्यवसाय का कितना अच्छा चित्र है ! इस गीत की अन्तिम दो कड़ियों को गाते समय प्रवासी वाहीक की आँखों में वही ज्योति आ जाती होगी जो डूंगजी जवाहरजी की धमाल सुनकर शेखावटी के सफेद दाढ़ीवाले ठाकुरों की आँखों में अब भी आ जाती है । चाहे उसकी पथरकला-बन्दूक

की नाली में अब मकड़ी के जाले लग गये हों और उसकी जंग लगी तलवार नन्हें बच्चों के सिरहाने रखकर भूत-प्रेतों को टालने ही के काम की रह गई हो, पर उस समय के रायबहादुर सेठ करोड़ीमल, आनरेरी मैजिस्ट्रेट की खैर न उस ऊँट चढ़े राजपूत से मिलने पर थी और न खच्चरों पर चलनेवाले सत्तू खानेवाले इस वाहीक से !

इस गीत की समता का 'टिपरारी' से विचार पाठक ही करें।

(प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : नवम्बर, 1918 ई.)

31

महर्षियों की वृष्टि

आजकल बरसाती मेंढकों की तरह सब ओर महर्षि, महात्मा, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, ग्रेजुएटर्षि, वैश्य ऋषि की भरमार है। कहीं इन पदों की मान-रक्षा की बहस में 'राजर्षि भारतेन्दु', 'ब्रह्मर्षि अयोध्यानाथ' भी न लिखा जाने लगे। सचमुच भारतवर्ष इनकी कृपा से ऐसा आश्रम न बन जाय, जहाँ द्वन्द्व, शोक, द्वेष दूर से ही किनारा करें। एक बार दो बंगाली सज्जन सेकण्ड क्लास में कश्मीर जा रहे थे। एक के चरणों में गेरुआ बूट, देह में रेशमी कम्बल और मुँह पर चिकनी दाढ़ी देख, एक यात्री ने पूछा – "आपका नाम क्या है ?" पास के धार्मिक मुसाहब ने तपाक से उत्तर दिया, "महर्षि अमुकानन्द सरस्वती" और पूछने वाले का नाम पूछा। उसने गम्भीरता से कहा, "अर्शी" तमुक। "अर्शी का क्या अर्थ है ?" यह पूछने पर उत्तर मिला कि मुझे अर्श रोग है, अतएव मैं अर्शी हुआ; तीन-चार मास में रोग बढ़ जाने पर 'महर्शी' कहलाऊँगा ! ! !"

यही नहीं, आजकल उपाधियों की बड़ी छीछालेदर हो रही है। ऐसे समय में, जब कि एक ओर 'जन्मना जायते शास्त्री' वाले दाक्षिणात्यों की, और दूसरी ओर चाहे संस्कृत में चार पंक्ति भी लिखना न आवे, व्याकरण वा काव्य के चार-पाँच ग्रन्थ पढ़कर 'शास्त्री' और 'आचार्य' कहलाने का दावा रखने वाले कालेज-कूष्माण्डों की भरमार है, हम लोगों को अपनी उपाधियाँ लिखते भी लज्जा आनी चाहिए! यही नहीं, पाँच-सात समस्यापूर्ति करने से आप साहित्य-जमींकन्द, साहित्य-राजा, साहित्य-शम्बूक, और न मालूम क्या-क्या बन सकते हैं; भारत के भास्कर बनकर अपने कुकाव्य किरणों से उसे जला सकते हैं ! ! और पाँच-छै रटे हुए व्याख्यान देकर मारवाड़भूषण, अवधभूषण और न जाने किस-किस अश्रुत विद्या के वारिधि बन सकते हैं ! ! ! 'आनन्दकादम्बिनी' ने विज्ञानाचार्य जगदीश वसु को 'भारतमार्तण्ड' पद देने का प्रस्ताव किया है, वास्तव में इस पद के देने से भारत की प्रतिष्ठा है, न कि वसु महाशय की; किन्तु इस सब बात का क्या प्रमाण है कि कल ही कोई घरऊ-मुरऊ सभा जिसे-तिसे यह उपाधि देकर इस उपाधि की अप्रतिष्ठा न कर दे ? अपनी तरफ से हम तो डाक्टर वसु को सदा इसी पद से लिखेंगे।

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-फरवरी, 1904 ई.)

32

न्यायघंटा

'राजतरंगिणी' में राजा हर्ष (ई.सं. 1089-1101) के वर्णन में लिखा है कि उसने अपने महल के सिंहद्वार पर चारों ओर बड़े-बड़े चार घंटे बँधवा दिये जिससे उनके बजने से वह विज्ञप्ति (प्रार्थना) करना चाहनेवालों का आमा जान जाय। जानकर तथा उनकी दुखिया बानी सुनकर वह उनकी तृष्णा ऐसे हटाता जैसे बरसाती मेघ चातकों की।[1]

'प्रबंधचिन्तामणि' में एक कथा है कि चौड (चौड, चोल, या गौड) देश में गोवर्धन नामक राजा के यहाँ सभामण्डप के सामने लोहे के स्तम्भ पर न्यायघंटा था जिसे न्याय चाहनेवाला बजा दिया करता। एक समय उसके एकमात्र पुत्र ने रथ पर चढ़कर जाते समय जान-बूझकर एक बछड़े को कुचल दिया। बछड़े की माता (गौ) ने सींग अड़ाकर घंटी बजा दी। राजा ने सब हाल पूछकर अपने न्याय को परम कोटि पर पहुँचाना चाहा। दूसरे दिन सवेरे स्वयं रथ पर बैठ राह में अपने प्यारे इकलौते पुत्र को लिटाकर उस पर रथ चलाया और गौ को दिखा दिया। राजा के सत्त्व और कुमार के भाग्य से कुमार मरा नहीं।[2]

जिनमंडनगणि ने 'कुमारपाल प्रबंध' में लिखा है कि कुमारपाल ने राजसिंह द्वार पर न्यायघंटे बँधवाये थे।[3]

अमीर खुसरो अपने 'नुह सिपिहर' अर्थात् 'नवचक्र' नामक फारसी-ग्रन्थ में, जो कुतुबुद्दीन मुबारक शाह (तख्तनशीनी सन् हिजरी 716; 1316 ई.) के समय में बना था, लिखता है कि मैंने यह कथा सुनी है कि दिल्ली में पाँच या छै सौ वर्ष पहले अनंगपाल नामी एक बड़ा राय था। उसके महल के द्वार पर पत्थर के दो सिंह थे। इन सिंहों के पास उसने एक घंटी लगवाई कि जो न्याय चाहे उसे बजा दे, जिस पर राय उन्हें बुलाता, पुकार सुनता और न्याय करता। एक दिन एक कौआ आकर घंटी पर बैठा और घंटी बजाने लगा। राय ने पूछा कि इसकी क्या पुकार है। यह बात अनजानी नहीं कि कौए सिंह के दातों में से मांस निकाल लिया करते हैं। पत्थर के सिंह शिकार नहीं करते तो कौए को अपनी नित्य जीविका कहाँ से मिले ? राय को निश्चय हुआ कि कौए की भूख की पुकार सच्ची है, क्योंकि वह उनके पत्थर के सिहों के पास आन बैठा था। राय ने आज्ञा दी कि कई भेड़-बकरे मारे जायें जिससे कौए को कई दिन का

1. 'राजतरंगिणी : 7 । 879-80
2. 'प्रबंधचिन्तामणि' : पृ. 285
3. आत्मानन्द : सभा का संस्करण, पृ. 60(2)

भोजन मिल जाये ।[1]

इब्नबतूता सुलतान अल्तमश के वर्णन में लिखता है कि उसने आज्ञा दी कि जिस किसी पर अन्याय हुआ हो वह रंगीन कपड़े पहना करे । इस देश में लोग सफेद कपड़े पहनते हैं । इससे जब सुलतान का दरबार होता या वह बाहर जाता और किसी को रंगीन कपड़े पहने देखता तो उसकी पूछताछ करता और सताने वाले से उसे न्याय दिलवाता । किंतु सुलतान इस उपाय से प्रसन्न नहीं हुआ । सोचा कि कुछ लोगों पर रात को अन्याय होता है, मैं उनका भी निस्तार करना चाहता हूँ । इसलिए उसने दरवाजे पर दो संगमरमर के सिंह ऊँची चौकियों पर स्थापित किये । इनके गले में एक जंजीर थी जिसमें एक बड़ा घंटा लटक रहा था । अन्याय के सताये रात को आकर घंटा बजाते, सुलतान सुनकर झट पूछताछ करता और पुकारू को सन्तुष्ट करता ।[2]

सुलैमान सौदागर, जो भारत और चीन में पहला मुसलमान यात्री था, और जिसकी यात्रा का विवरण हिजरी सन् 238 (ई.स.851) के समीप का है, चीन के वर्णन में लिखता है – 'हर एक शहर में एक छोटी घंटी होती है जो राजा के या शासक के (बैठने के स्थान में) सिर पर दीवाल से बंधी होती है । इसके बजाने के लिए लगभग तीन मील लम्बी डोर बाजार पर से जाती है कि लोग उसे पहुँच सकें । जब डोरी खिंचती है तब शासक के सिर पर घंटी बजती है और वह झटपट आज्ञा देता है कि जो मनुष्य यों न्याय के लिए पुकार रहा है, वह मेरे पास लाया जावे । पुकारू स्वयं अपनी दशा और अन्याय का विवरण कहता है । यही चाल सब सूबों में है ।[3]

बीकानेर[4] के राजा रायसिंह के भाई पृथ्वीराज का हाल सुनने से अकबर के समय में भी ऐसी जंजीर का होना पाया जाता है । पृथ्वीराज ने, जो बड़े कवि थे, यह छप्पय लिखकर गाय के गले में बाँध दिया था –

अधर धरत त्रिण मुख्य ताहिं कोऊ नहिं मारत ।
सो हम निस दिन चरत बैन दुरबल उच्चारत ॥
सदा खीर घृत झरत मोर सुत पृथ्वी बसावत ।
कहा तुरकन को कटु कहा हिंदुन मधु पावत ॥
हम नगार पनही हमहि गलो कटावत हम दिये ।

1. इलियट, जिल्द 3, पृ. 565 । 'महाभारत' में कुलिंग-शकुनि, कलिंगशकुनि या भूलिंगशकुनि (भू पक्षी) का दृष्टान्त कई जगह दिया है कि वह कहा तो करता है, 'मा साहसं, मा साहसं – साहस मत करो, किंतु स्वयं इतना साहस करता है कि शेर की दाढ़ में से मांस के टुकड़े निकाल कर खाता है । 'पर उपदेश कुशल' लोगों पर इस पक्षी का दृष्टान्त दिया है 'न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेवपि गायति । प्रकृति यान्ति भूतानि कलिंगकुशनिर्यथा ।' हेमचन्द्र ने 'परिशिष्ट' पर्व में इसे 'मासाहसपक्षी' कहा है
2. इलियट, जिल्द 2, पृ. 59
3. रेनादो का अनुवाद; सन् 1733 का छपा, पृ. 25
4. यहाँ से लेख के अन्त तक का विषय मुंशी देवीप्रसाद जी की कृपा से प्राप्त हुआ है ।

पुक्कार अकब्बर साह सौं कहा खून हमने किये ॥

वह फिरती-फ़िरती बादशाह के महल के नीचे आकर स्वभाव से अदालत की जंजीर से सिर मारने लगी और घंटे बजने लगे। बादशाह फरियादी का आना जान निकल आये और कागज पढ़कर उन्हें ऐसी करुणा आई कि गौवध की मनाई कर दी गई।

पूरब के कवि इस छप्पय के शब्दों में कुछ फेर-बदल कर इसे 'नरहरि' कवि की रचना कहते हैं, जो उसने गाय के सींगों से बाँध दी थी।

सम्राट जहाँगीर की जंजीर-अदालत का प्रमाण 'तुजुक जहाँगीरी' से मिलता है। वहां जहाँगीर लिखता है[1] कि तख्त पर बैठते ही अपना हुक्म जो मैंने दिया, वह इन्साफ की जंजीर बाँधने का था; जो अदालत के मुत्सद्दी जुल्म से सताये हुए लोगों की फरियाद को पहुँचाने और जांच करने में सुस्ती और ढील करें तो वे लोग इस जंजीर को हिला दें, जिससे खबर हो जावे और वह इस तौर पर बनाई गई कि मैंने हुक्म दिया कि 4 (ईरान के 32) मन खरे सोने की 30 गज लम्बी जंजीर बनावें जिसमें 60 घंटे लगे हों, उसका एक सिरा तो किले की शाह बुर्ज से लगाया और दूसरा दरिया (यमुना) के किनारे तक ले जाकर एर एक पत्थर के लाट पर गाड़ा गया।

हिन्दी तारीख चगत्ता में, जो जयपुरी बोली में जयपुर के महाराज माधोसिंह जी (पहले) की आज्ञा से बनाई गई थी और जिसकी प्रति टोंक के पण्डित रामकर्ण जी के पास थी, मुंशी देवीप्रसाद जी ने जहाँगीर के इन्साफ की यह कथा पढ़ी थी। एक गाय ने जंजीर हिलाई और बादशाह ने उसे देखकर साथ में एक सिपाही कर दिया। गाय सिपाही को एक पठान के घर ले गई जिसने कि उसका बछड़ा मार डाला था। सिपाही पठान को बादशाह के पास ले आया। बादशाह ने उसके हाथ-पांव बँधवाकर उसे गाय के सामने डलवा दिया और गाय ने उसे सींगों से मार डाला।

शायद उसी किताब में यह कथा भी है कि एक बार एक ऊँट ने जंजीर हिलाकर घंटी बजा दी। बादशाह ने उसकी पीठ छिली हुई और लहू-लुहान देखकर ऊँटवाले से कहा कि अगर अब छः मन से ज्यादा बोझ लादा तो सजा मिलेगी और उस दिन से ऊँट पर छः मन से ज्यादा बोझ न लादने का कानून बन गया।

(प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : 1922 ई.)

1. जिल्द 1, पृ. 5

33

जोड़ा हुआ सोना

कहते हैं कि हिन्दुस्तान बहुमूल्य धातुओं की समाधि (कब्र) है। धातु यहाँ खिंचकर चले आते हैं, फिर निकलते नहीं। और देशों में सोने के निकास को रोकने के लिए नियम बनते हैं, यहाँ निकास की कथा नहीं, आमद पर डाँट लगाना पड़ती है। जैसे वैद्यों की बुभुक्षित पारद सोना चट कर जाता है और डकार तक नहीं लेता, वैसे यह देश भी सोना सोखता जाता है, इस स्पंज या ब्लाटिंग पेपर में कितना सोना सोखा जा सकता है। कहते हैं कि बढ़िया दस्तकारी का माल बाहर भेज-भेजकर बदले में सोने के सिक्के खैंचकर हिन्दुस्तान ने ही रोम के साम्राज्य का दिवाला निकाल दिया था। कुछ अंकशास्त्रियों के मत में प्रति चूल्हे की परिधि में और प्रति खटिया की तल में कुछ-न-कुछ सोना अवश्य है, उसका लेखा करोड़ों पर जा लगता है, यहाँ की चाल भी सोने का प्रेम सिखाती है। जनमते बालक की जीभ पर सोने की सलाई से शहद और घी चटाना 'गृह्यसूत्र' कहते हैं और मरते दम तुलसी, सोना मुँह में डाला जाता है, यों जीवन-मरण सोने के प्रेम में बीतता है।

सोना जोड़ने का एक अद्भुत उपाय इस देश ने निकाला है। वह है, चलती-फिरती तिजोरियां, घूमती-फिरती पेटियाँ, दौड़ते-खेलते बंक! जहाँ सोना पास हुआ, गले में या सिर में टाँक दीजिए। बंक प्रसन्न हो जायेंगे। बंकिम कटाक्षों को धन्यवाद देंगे, अठलाते दिखलाते फिरेंगे, सम्भाल रखेंगे, काम पड़ने पर जीती-जागती सोने की बेल से एक-आध नग उतारकर काम चला लीजिए फिर सुविधा होने पर चढ़ा लीजिए। इन चलते-फिरते बंकों के गलों तथा नाकों और जाँघों और हाथों में कितना कनक लदा हुआ है, इसका अन्दाज करते हुए अंक-शास्त्री भी हारते हैं। पिछले वर्षों से इनकी मात्रा बढ़ी है। जहाँ पीतल थी, वहां चाँदी चमकती है। जहाँ चाँदी थी, वहां सुवर्ण का वर्ण दमकता है।

इन खूँटियों से लदने वाले कभी सोना खरीदने में थकते नहीं। लोग कहते हैं कि देश गरीब है, सोने की खपत के अंकों को देखें तो यह मानने का साहस नहीं होता। सोना 34 का था, तब भी लेने वालों ने लिया, लेना बंद न हुआ। आजकल सरासर देख रहे हैं कि सोने का असली भाव 13 का है, पर सरकार 20। 21 में बेचती है। और लोग चट किये जाते हैं, फिर बाजार में 23। 24 में बिकता है पर मिलता नहीं, पखवाड़े के पखवाड़े एक लाख कई हजार तोले बिकता है, पता नहीं कहाँ घुस जाता है। इस बड़वाग्नि में कितना सुवर्ण सागर खप जाता है, यह कौन कहे?

सोने की खानें अमेरिका में बहुत अधिक हैं। अमेरिका को पहले-पहल सन् 1493 से

कोलम्बस ने पाया। इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले अमेरिका था ही नहीं, देश था, किन्तु योरोपियन जातियाँ बाईबल के अनुसार मानती थीं कि जमीन चपटी है और आकाश उस पर तम्बू की तरह तना हुआ है।

अमेरिका का होना उसने दिखाया और आना-जाना चलाया। सोने की खानें आस्ट्रेलिया में हैं, अफ्रीका में हैं, कुछ भारत में भी हैं। अच्छा, तो सन् 1493 में संसार की खानों से तीन अरब पचास करोड़ पाउंड का सोना निकल चुका है। इसमें से एक अरब पचास लाख का तो पिछले साल में निकला है। सन् 1493 से पहले भी संसार में बहुत कुछ सोना था ही। सोना कभी नष्ट नहीं होता। वैद्य लोग पारद में मिलाकर या खाक करके कुछ खिला डालें, या शौकीन लोग पान के साथ वरकों के रूप में चट जायें, नहीं तो सोने का नाश नहीं होता। गीता के आत्मा की तरह न इसे शस्त्र काटते हैं, न आग जलाती है, न पानी गीला करता है, न वायु सुखाता है तो भी पिछले सोने की बात जाने दीजिए। तीन अरब पचास लाख पौंड सोना तो कम-से-कम दुनिया में है और पचीस साल पहले लगभग आधा था। इन पचीस साल में हिन्दुस्तान में इक्कीस करोड़ पचास लाख पौंड मूल्य का सोना आया। इसी में नौ करोड़ चालीस लाख पाउंड के सिक्के भी हैं, जो सन् 1901 से यहाँ आये, एक अंकविद्या-विशारद की कूत है कि आजकल हिन्दुस्तान में 37 करोड़ 10 लाख पौंड का सोना है, जो संसार के सोने के लगभग दशमांश के बराबर है। लड़ाई के पहले के पाँच वर्ष में यहाँ पर दस करोड़ पचास लाख पाउंड खप गये थे, यह भी संसार की सुवर्ण-मुद्रा पूँजी का दसवां हिस्सा है।

यह सोना दिखाई तो बहुत देता है, पर यह भी याद रहे कि यहाँ पर जनसंख्या साढ़े इकतीस करोड़ है, इससे इतना सोना भी प्रति मनुष्य एक पाउंड से कुछ कम ही ऊपर पड़ा। इंग्लैण्ड के बैंकों में इतना सोना जमा है कि प्रति मनुष्य तीन पौंड से अधिक पड़ता है और यहाँ की चलती-फिरती बंकों में भी आभूषणों के रूप में बहुत कुछ सोना होगा ही। अमेरिका के बंकों और चलते-फिरते बैंकों में सिक्कों और आभूषणों के रूप में एक अरब सोना रखा हुआ है जो प्रति मनुष्य दस पौंड पड़ता है। अब क्या बात ठहरी ? यदि भारतवासी सोना जोड़ने में दक्ष हैं तो इंग्लैण्ड वाले तिगुने दक्ष और अमेरिका वाले दस गुने दक्ष हैं – कानी का काजल भी खटकता है, नहीं तो जोड़ने में ये सभ्य देश भी इस गँवार किसानों की भूमि के पीछे नहीं हैं। हाँ, अन्तर यह है कि उनकी निधि बैंकों में एकत्रित है जहाँ से व्यापार आदि का काम चलता है और इकट्ठी निधि का दबाव दूसरे देशों पर पड़ता है और हमारी निधि छल्लों, कंगनों और कर्णफूलों में बिखरी पड़ी है, जो दिखाई देती है, और काम नहीं आ सकती।

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जून, 1920 ई.)

34

काशी की नींद और काशी के नूपुर

(घरघूमन दादा का पत्र)

मैं जैसा घूमनेवाला हूँ, वैसा सोनेवाला भी हूँ। लोग आँखों से पहचानते हैं, मैं नींद और नींद के विघ्नों से पहचानता हूँ। उपनिषदों के मेधावी पण्डित की तरह आँखें बाँधकर मुझे किसी शहर में छोड़ दीजिए, मैं नींद और नींद के विघ्नों से बता दूंगा, कि मैं कहाँ हूँ। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। जैसे मैं घूमने के लिए बदनाम हूँ वैसे मेरा सोना भी अद्‌भुत है। किपलिंड ने सत्तावन दुर्गन्धों से रंगून को पहचाना था, मेरे कान सलामत रहें और कोई शहर मेरी नींद में विघ्न डालने का साहस करे, बस शनाख्त हो गई।

माघ महीने की चाँदनी रात है। जाड़ा कह रहा है कि बस आज ही पड़ूँ। रात के तीन बजे हैं। मैं मूसल की तरह सो रहा हूँ, इतने में जहाँ खंजड़ी की टकटक और – हरिगुण गाय मगन भये तुलसी, मगन भये तुलसी – का बेसुरा चीत्कार सुना कि मैं जान गया कि यह प्रयाग तीर्थराज है। शब्दबेध तो सीखा नहीं, पर सिरहाने पानी का लोटा रखा था। उसे उठाकर इस जोर से फेंका कि, उस नींद के भूत वैरागी ने समझा होगा कि उस मौके चेपलिन आ गये। मन को सन्तोष नहीं हुआ। यही चाहता था कि तुलसी की तरह हरिगुण गाकर वह मगन नहीं हो सकता तो इस हरिदास को त्रिवेणी में मगन करने के लिए क्यों नहीं वालण्टीयर बनूँ। खैर हुई कि गुदड़ी छोड़ने का आलस्य न छोड़ सका, नहीं तो प्रयागवासियों की नींद का सदा के लिए बीमा हो जाता।

जेठ में एक रात लाहौर में बितायी थी। सोते समय रोज यही प्रार्थना करता हूँ कि, कुम्भीपाक नरक में इधर फिर वैसी रात न बिताऊँ। बीमार को मैं यह समझाना चाहता हूँ कि, तीन रात यहाँ सोना साँस-घोटनी रोग से कहीं बढ़कर है। निराली गर्मी थी – न तो मारवाड़ की जलाने वाली लू और न सूखी तपन – एक गीली-गीली साँसघोट गर्मी। मानो आकाश उतरकर छाती और गले को दबाकर बैठ गया हो। हवा का नाम नहीं, पसीना कपड़ों को बदन से चिपका रहा था। म्युनिसिपैलिटी, के संडासों की पंचमेल बास और छाती पर दुनिया भर का बोझ, इतने में स्टेशन के गधे एन्जिन ने वह किलकार मारी की भूकम्प हो गया। मैं अपने दिन के नाम को चरितार्थ करने दौड़ा। ऐसी गीली गर्मी ! ओफ ! !

ऐसे ही जहाँ दिन भर गाड़ी की लोकों में सोकर और बाल-बाल बचकर लैंडी कुत्ते आधी रात के पीछे एक स्वर हो अपने कण्ठों की कसरत दिखाते हैं और बीच-बीच में चौकीदार "व्यो

व्यो व्यो व्यो हो" की टेक लगाकर धूम कर देता है, वहाँ मैं जान लेता हूँ कि, यह अमुक राजधानी है। चौकीदार की भाषा को समझने के लिए मैंने छत्तीस व्याकरण पढ़ डाले और बहत्तर बना डाले, पर उस व्यक्ताव्यक्त ध्वनि का तात्पर्य न खुला। निश्चय यही हुआ कि कुत्तों के मलार से चिढ़कर चौकीदार अपने पंचम स्वर से उनके कोरस को मन्दा करना चाहता है और कुत्ते चक्रवृद्धि ब्याज से बदला चुकाते हैं। शायद उस शहर में संखिया नहीं बिकता है नहीं तो चौकीदार और कुत्ते –

जहाँ कैद किये हुए पिशाची की छाती की धड़कन की तरह रात-भर धप धप होती रहे और सारी पृथ्वी उस प्रकम्पन में धड़कती जान पड़े, वहीं मैं जान लूँगा कि इस पुराने फलां नगर में रेलवे के कारखाने ने नये प्राण डाल दिये हैं। यह धप धप पहले तो लोरी का काम देती है और फिर स्वप्नों में वह समा बाँधती है कि छाती पर बैठकर कोई हथौड़े से पत्थर तोड़ रहा है। एक रात वहाँ बिता आओ तो सात दिन कानों में से गूँज नहीं जाती।

उसी के पड़ोस में एक छोटा किन्तु नया शहर है, जहाँ गधे पाव-पाव घण्टे के अन्तर से अपना शान्तिपाठ किया करते हैं। कभी एक कोने से वैशाखनन्दन जी का मधुर गान आता है, कभी दूसरे कोने से। आप समझेंगे कि बस हो चुका, कि अचानक तीसरी ध्वनि आपके नीचे ही से आती है और आप चौंक पड़ते हैं। इन कत्थकों के गानों में पन्द्रह मिनट का इतना पूरा अन्तर रहता है कि शहर में घड़ियों की जरूरत नहीं। गधों के सम्वाद के दौरों की संख्या में चार वरां भाग दे लिया और घण्टे जान लिये। सुना जाता है कि यहाँ की म्युनिसिपल कमिटी के प्रेसिडेण्ट रात भर स्वरों के उतार-चढ़ाव को नोट किया करते हैं और वर्ष के अन्त में सबसे अच्छे गवैये को गाजरों का एक टोकरा इनाम दिया करते हैं। गधे भी इस बात को जानते हैं और अपनी परीक्षा देने में कमी नहीं करते।

सोने की जगह जो मेरे मन भायी है – काशी है। गंगा के तट का कोई कोठा हो और शरद की चाँदनी रात हो। बस, गंगा में तो काशी में बहाव है ही नहीं – न तो व्यास का-सा पत्थर पीसने वाला शब्द और न सतलज की हजार थानों के चीरे जाने की-सी ध्वनि। न अटक की-सी कूद और न बंगाले की मैदानी नदियों की-सी रोने की सुबक। सबसे पिछली नाव किनारे पर लग गई, तीन-चार लहरों ने किनारे का चुम्बन किया – लप, लप, लप और फिर सन्नाटा।

और गंगा; दुबली, प्रशान्त गंगा – पिछले मेह के कारण मिर्जापुरी मट्टी का कुछ गुलाबीपन और शान्ति। लहर नहीं, शब्द नहीं और चाल भी नहीं। क्यों न हो –

भर्तुस्तया कलुषितां बहुबल्लभस्य
मार्गे कथेचिदवतीर्य तनूभवन्तीम्।
सर्वात्मनारतिकथाचतुरेव दूती
गङ्गा शरन्नयति सिन्धुपतिं प्रपन्नाम ॥

अभिसारिका की चाल ही क्या जो कुछ खुटका हो जाय? "कलुषितां कथैचित् अवतीर्य", "तनूभवन्तीम्",– संस्कृत न जाननेवालों को कैसे समझाऊँ?

रोगी को नींद नहीं आती। भरपूर नींद सोना स्वास्थ्य का लक्षण है। तीन हजार वर्ष का यह बुड्ढा शहर जिस सुख की नींद सोता है उसे देखकर जवान शहरों को, जो रात-भर चिल्लाते और बिचकते हैं – शरमाना चाहिए। हिन्दू-साम्राज्य के सबसे पिछले नमूने की तरह सेंधिया और भोंसला-घाटों पर शहनाई की नौबत हो चुकी – भारत के रक्षक चौकीदार अंग्रेज सरकार की अभयवाणी की तरह राजघाट के पुल पर मुगलसराय की गाड़ी की जाने की गूँज गूँज गयी – रक्षादीपक की तरह राजघाट के खम्भों की लालटेनें चमक रही हैं और काशी सो गयी। रात-भर न पत्ता खड़केगा न कुत्ता भूँकेगा और न कुंडी खड़केगी।

यह क्या झींगुर की झनझन है ? है ! इस जगह भी शान्ति न मिली ! नहीं, यह तो ऊपर के कोठे पर नूपुर की ध्वनि है।

बस, काशी में नूपुर बजा करते हैं। चाहे तंग गलियों में अभिसारिकाओं के हों, चाहे कोठे पर नायिकाओं के।

काशी और नूपुर;– नूपुर और काशी – संस्कृत-साहित्य का पुराना जोड़ा है। काशी के नूपुर बहुत पुराने हैं, जहाँ काशी का नाम आया वहाँ नूपुरों की कथा।

ईसवी सन् 755 से 786 तक कश्मीर में जयापीड़ नामक राजा था। उसने अपने राज्य में व्याकरण महाभाष्य का प्रचार कराया था। जानते हो उसका मंत्री कौन था ? दामोदर गुप्त। इस मन्त्री ने "कुट्टिनीमत" नामक एक ग्रन्थ लिखा था और कुटनियों के मत का आचार्य होने के कारण ही वह मंत्री चुने जाने योग्य समझा गया। कुट्टिनीमत में बड़े मजे की बातें लिखी हैं। काशी की शान में लिखा है –

यत्र च रमणीनूपुर रववधिरित सकलदिङ्नभोभागे।
शिष्याणामाचार्यैनविधं वार्यते पठताम् ॥

काशी में रमणियों के नूपुरों की ध्वनि से सब दिशाएँ और आकाश बहरे हुए रहते हैं। बिचारे गुरु क्या करें ? शिष्य अशुद्ध पढ़ते हैं तो उन्हें ये टोक नहीं सकते। सुनें तो टोकें। काशी के महामहोपाध्यायों से पूछना है कि क्या अब भी वे वैसा ही पढ़ाते हैं जैसा कि कुट्टिनीमतकार के जमाने में पढ़ाते थे।

और सुनिए : काशी के एक किसी राजा से उसकी रानी विरक्त हो गयी थी। उसने अपने नूपुर को जहर में बुझाकर अपने पति को मार डाला था। काशी की रमणी के जहरीले नूपुर की यह कथा सारे पुराने साहित्य में गूँज रही है –

क्या वराहमिहिर की "संहिता" में, क्या कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" में, क्या कामन्दक की "नीति" में और क्या बाण के "हर्षचरित" में –

शस्त्रेण वेणी विनिगुहीतेन विद्वरथं स्वा महिषी जघान।
विषेण दिग्धेन तु नूपुरेण-देवी विजघ्ने किल काशिराजम ॥

वेद व्यास जी का नाम तो सुना होगा। वही कृष्णद्वैपायन व्यास, वेदों का विभाग करने वाले और पुराणों के रचनेवाले, उन्होंने यदि कहीं नूपुरवाले पैर की लात खाई है तो काशी में

ही खाई। बौद्ध कवि अश्वघोष की गवाही लीजिए –

द्वैपायनो ब्रह्मपरायणश्च रेमे समं काशिषु वेशवध्वा।
तया हतो भूच्चलनूपुरेण पादेनं विद्युल्लतयेव मेघः॥ (सौन्दरनन्द)

खूब वेशवधू के यहाँ पहुँचे और नूपुर वाले पैर की लातें खायीं।

पुरा हि काशिसुन्दर्या वेशवध्वा महानृषिः।
ताडितोऽभूतपदाघातैर्दुर्धर्षो दैवतैरपि॥

और बुड्ढे अश्वघोष को उपमा भी क्या सूझी है ? "जैसे बिजली से मेघ ताड़ित होता है।" तेज लात के नूपुर की चमक बिजली ठहरी, और व्यासश्री के शरीर की मेघ से अच्छी उपमा और क्या हो सकती है ? जिस काले शरीर के भय से एक ने तो आँखें बन्द कर लीं और अन्धा धृतराष्ट्र पैदा हुआ, और दूसरी पीली पड़ गई और उसका पुत्र जन्मते ही पाण्डुरोगी पाण्डु हुआ।

ये हैं काशी के नूपुर – बाबा व्यास ने इनका स्वाद चखा था और बुड्ढे अश्वघोष ने इनका झणत्कार सुना था। रसिया काशिराज ने इनमें अपनी जान खोई थी और छैला दामोदर गुप्त इनकी बदौलत अशुद्ध ही पढ़कर काशी से चला गया। अशुद्ध पढ़ा तो क्या हुआ, कुट्टिनियों की विद्या तो सीख गया और कश्मीर का मन्त्री बन गया।

ये हैं काशी के नूपुर – ये क्यों न बजें ? शताब्दियों से ये बजते आते हैं और बजते रहेंगे। मेरी नींद चाहे रहे, चाहे जाय, इन्हें बजने दो।

यह क्या, नूपुर की आवाज बन्द और कौंधनी की झनझनाहट आरम्भ हो गई ? वहीं ऊपर के कोठे पर ! ठीक है –

प्रशान्ते नूपुरारावे बुद्धयते मेखलाध्वनिः।
कस्यैषा कृत पुण्यस्य.......।

बस, भैया घरघूमन, रहने भी दो। होली तो है, पर आजकल हिन्दी के पत्र में हँसी मसखरी को असभ्यता समझते हैं।

(प्रथम प्रकाशन : दैनिक भारतमित्र : 19 मार्च, 1916 ई.)

35

धनौरे की भटियारी की गन्दादहनी

नीच हिये हुलसे रहै, गहे गेंद की पोत।
ज्यों-ज्यों माथे मारिये, त्यों-त्यों ऊँचे होत॥

यह उक्ति मण्डीवाली "मनोरमा" के धींग धग्गड़ों पर पूरी तरह चरितार्थ हो रही है। उस पर अब तक जो कुछ लिखा गया है, उसका मतलब इन शुतर बेमहार गुमराहों को राह पर लाना था, क्योंकि ऐसे दुशवार गुज़ार रास्ते पर आँख मीचकर और "ज्ञानलव-दुर्विग्धता" के नशे में मस्त होकर चल पड़े हैं, जहां यह पद-पद पर ठोकरें खाकर बार-बार औधे मुँह गिर रहेहैं, अपने ऊपर समझदार देखने वालों को हँसा रहे हैं और नासमझों को गुमराह करने का मानो बीड़ा उठा रहे हैं – उनके लिए हिम्मते बेजा या दुःसाहस की एक बहुत बुरी मिसाल पैदा कर रहे हैं, साथ ही यह भी कहते जा रहे हैं कि "हमें रास्ते का नशेबोफ़राज़ सुझाया जाय, हमारी गलतियाँ बतलाई जायें।" इसलिए यह काम और भी जरूरी मालूम हुआ, अन्धे को रास्ता बतलाना वैसे भी सवाब का काम है, ऐसे मौके पर चुप रहना गुनाह है –

"अगर बीनम् के नाबीना व चाहस्त।
वगर खामोश बनीशनम् गुनाहस्त।"

समालोचना से मतलब कि किसी को शिकस्त देना या हराना नहीं था –

"गवारा यां दिले-दुश्मन को भी शिकस्त नहीं।
हमारी कफ्श से मूज़ी को भी गज़न्द न हो।"

पर देखते हैं, इन भले आदमियों ने हार-जीत का सवाल बनाकर बुरी तरह हाय-तोबा मचाना शुरू कर दिया है, यह बताने वालों का शुक्रिया करना तो एक ओर रहा, दरीदादहनी से उन्हें फाड़ खाने दौड़ते हैं, गंदादहनी से गालियों का मैला इस तरह से उगल रहे हैं कि बदबू में संडास को भी मात कर रहा है, इन्होंने जवाब के लिए मुँह खोला मानो सड़े हुए संडास का ढकना उठा दिया और समझ लिया कि इस बदबू के पास कोई काहे को खड़ा रह सकेगा, और इससे कहने को हो जायेगा कि सबको भगा दिया, मैदान हमारे हाथ रहा, कोई है जो हमारे सामने ठहर सके। पर ऐसा समझना हद से बढ़ी हुई बेवकूफी है। जब जर्मनी की विषैली गैस का तदारुक मुमकिन है, तो इस बदबू को भी फनाइल के कन्टर से दबाया जा सकता है। डाक्टर को सड़ी-से-सड़ी बदबू का मुकाबला भी करना ही पड़ता है। उसे गन्दे-से-गन्दे जख्मों को भी चीरना पड़ता है, सांसिये और कंजर जब किसी मौके पर घिर जाते हैं तो घेरने वाले का गू-मूत का गन्द बिखेरकर पीछा छुड़ाना और भागना चाहते हैं, फिर भी धरे ही जाते हैं।

अक्सर देखा गया है कि "कम कूवत गुस्सा ज्यादा" गन्दादहन बुज़दिल, किसी जबरदस्त शरीफ पर हाथ उठाकर या गाली देकर उधर से जवाब में हाथ उठने से पहले ही इधर-उधर के राह चलतों से पुकार-पुकार कर मज़लूम सूरत बनाकर और रो-रोकर अपील करने लगते हैं, "दुहाई है लोगों ! बचाइयो, ये हक़नाहक़ बिना कसूर मुझ गरीब को मारे डालते हैं, मैंने कुछ नहीं कहा, मेरा ज़रा क़सूर नहीं।" ठीक यही हालत हमारे बुजदिल मुक़ाविल की इसी मौके पर है। फ़ोहश से फ़ोहश और गन्दी से गन्दी गालियाँ (जिन्हें कोई शरीफ़, ज़बान पर लाना गवारा नहीं कर सकता, रज़ील की बात दूसरी है।) सुनाकर भी रो-रोकर अपनी मासूमियत पर यक़ीन दिला रहे हैं। लोगों की आँखों में धूल झोंककर अपने हक़ में फैसला लेने की बेहूदा और कौदकाना कोशिश कर रहे हैं। अपनी "मनोरमा" के प्रेमी पाठकों को भी आपने अपने ही जैसा बुद्धू समझ लिया है। कुर्बान जाइए इस अदा के। पहले आपने खामखाह छेड़खानी शुरू की। दूसरों की उम्र का नये फल कहने वाले अज्ञ फल कहने वाले अज्ञ दैवज्ञ की तरह बतौर खुद तअययुन करके किसी को "अल्हड़" और किसी को "नवयुवक" बतलाया, समालोचक को "बूढ़े" का खिताब अता फ़रमाकर, अपने आपको एक बांकी अदा से – नौ उम्र और "नौआमोज़" जाहिर किया, इस पर "समालोचक" ने आपकी खुद ज़ाहिरकरदा नौउम्री के लिहाज से जब आपको "बरखुर्दारमन" कह दिया (जो कोई गाली नहीं – है अपने से छोटी उम्रवालों के लिए दुआइया कलमा – आशीर्वादसूचक संज्ञा – है) तो इससे आपको चूना लग गया, इसे (बरखुर्दारमन को) अपने खुशफ़हमी से शायद बहुत बड़ी गाली समझकर शिष्टता, सभ्यता और लज्जा की धज्जियाँ उड़ाते – इन्सानियत को धता बताते हुए जिस गन्दादहनी से काम लिया है, वह आप ही का हिस्सा है, और तुर्रा यह कि इस कमाल बेशरमी की हरकत पर शर्मदारी का दावा है।

अपने मुँह से खुद ही अपने लिए "पशु" की पवित्र उपाधि तजवीजकर, इस नामधराई का इलज़ाम हम पर धरते हैं। हमने तो नहीं कहा, अब भी नहीं कहते, पर उस्ताद जौक़ ज़रूर कह गये हैं और ऐसे ही मौक़े के लिए कह गये हैं –

"आदमीयत और शै है, इल्म है कुछ और शै,
इतना तोते को पढ़ाया पर यह हैवां ही रहा !"

और, आप सोचेंगे तो समझेंगे कि आदमियत से मँज़िलों के नीचे गिरी हुई आपकी यह करतूत ज़बाने-हाल से उस्ताद के क़ौल की ताईद कर रही है। आपके अन्दरवाला इस हैवानी हरकत पर खुद लानत मलामत करता मालूम दे रहा है, जिसका सबूत आपके घबराहट भरे लेख के लोगों से अपील वाले हिस्से में साफ़-साफ़ मिल रहा है।

इस बार आपने अपने तईं "स्याना" साबित करने की हरचंद कोशिश की है, और अयानपन के पहले दावे को वापस लेना चाहा है, पर इतनी जल्दी बचपन की ग़लतियों के चिह्न कहीं मिट सकते हैं, बालेपन के संस्कारों की बद्धम्मूलता आवृद्धबाल प्रसिद्ध है, यानी बचपन में बुरी भली जो आदत पड़ जाती है, वह मरते दम तक नहीं छूटती, अक्सर देखा गया है कि बहुत-से बच्चे बचपन में दूसरों की देखादेखी या किसी के सिखाने से माँ को भाभी और बाप

को भाई कहने लगते हैं, बड़े होकर दाढ़ी-मूँछों वाले कहलाकर भी – ठीक-ठीक रिश्ता जान लेने पर भी – संस्कारवश उन्हीं नामों से माँ-बाप को पुकारते रहते हैं। मनोरमा-सम्पादक के सम्बन्ध में भी एक ऐसी ही रिवायत मशहूर है, (दरोग़ बरगदन रावी) कहते हैं कि इन्हें छुटपन में इनके बाप ने "पढ़ ले बेटा फ़ारसी" कहकर एक मुल्ला के सुपुर्द कर दिया, हमारे होनहार नये तालिब इल्म ने एक दिन उनसे पूछा – "चोंजी उस्तादजी, भला बाप को फ़ारसी में क्या कहवें" (यानी बाप की फ़ारसी क्या है ?) मुल्ला थे पुराने ढंग के सितमज़रीफ़। कहा, यह बात अभी नहीं बतलाई जायेगी, कुछ दिनों ज़ानुए तलम्मुज़ तै करो, चटाइयाँ तोड़ो, चिलमें भरो, सेवा करो, तो मेवा पाओगे, यही तो खास बात है जो और उस्ताद नहीं जानते, सिर्फ मैं ही जानता हूँ, या कुछ रज़ों बाद तालीम के खात्मे पर तुम जान जाओगे, सआदतमन्द और फ़रमाँबरदार शार्गिद ने सब कुछ किया, तब कहीं उस्ताद ने बाप की फ़ारसी बतलाई, कहा – बरखुरदार मन ! बाप को "खुसर मन" कहते हैं, अच्छी तरह याद रखो, इसके खिलाफ़ जो कोई कहे उसपर हर्गिज यकीन न करो, बाप की यही फ़ारसी है, मैंने खास फ़ारिस में जाकर शीराज़ के आलिमों से इसे सीखा है।" 'उस्तादे अव्वल' से बाप की यह फारसी सीखकर लायक पूत ने अपने बाप को "खुसर मन" ! कहकर आदाब अर्ज़ किया, सीधे-सीधे और भोले-भाले लाला जी (खुदा उन्हें बख्शे) बेटे की इस लियाकत पर बहुत खुश हुए, खूब पीठ ठोंकी, बलाएँ लीं, दुआएं दीं, दिल खोलकर दाद दी, पेट भरकर तारीफ़ की, बेटा फूलकर कुप्पा हो गये, और समझने लगे कि बस फ़ारसी में "हम चूमादीगरे नेस्त" – उनकी हीन हयात में आप बराबर उन्हें इसी लक़ब से मुख़ातब करते रहे, अब भी जब कभी किसी मौके पर उनका जिक्रे ख़ैर करते हैं तो इसी नाम से। और भी किसी उसी दर्जे के बड़े बूढ़े से खिताब करने जब आप प्रसन्न होते हैं, तो यही कह बैठते हैं। समझदारों ने पहले भी और अब भी कई बार समझाया कि यह क्या बकते हो, होश की पीवो, अदब और तमीज़ से बात करो, पर यह किसी की सुनने वाले थे ! मुल्ला ने मना जो कर दिया था कि इसके खिलाफ़ हरगिज किसी का यक़ीन न करना, यह उसी पर डटे रहे, जो सितमजरीफ़ मुल्ला ने रटा दिया था, उसे रटे रहो, बूढ़े समालोचक को भी वही कह बैठे, जो ये अपने बाप को कहा करते थे। पर यह कुटेब अच्छी नहीं, बूढ़े समालोचक को यह रिवायत मालूम है, इसलिए वह इसे तुम्हारे बचपन की जहालत या कुसंस्कार समझकर माफ कर भी सकता है, पर इस कुसंस्कार-रहस्य से अनभिज्ञ किसी ऐसे वैसे आदमी से यह हिमाकत या गुस्ताखी कर बैठे तो याद रक्खो असली मानो में। "दन्दांशिकन" जवाब मिल जायेगा, मुँह पिलपिला और पोपला हो जायेगा। किसी तरह यदि यह पुरानी बान न छूट सके, मुल्ला की बतलाई हुई इस फ़ारसी बू के बिना न रहा जाय तो पितृ-तर्पण के समय इसका उच्चारण करके हड़क मिटा लिया करो। कोई मुर्दा रूह इसे सुनकर प्राचीन संस्कारवश भले ही खुश हो जाय या चुप रह जाय; जिन्दा रूह तो जवाब में जरूर बोल उठेगी कि –

"जवाब उलट के न क्योंकर मैं उसके बदले दूँ,
कड़ी मेरे लिए है बोशे-बेज़बां सुनना !"

आपने एक और अनोखी चाल चली है, अपने लेखकों को भी "समालोचक" के खिलाफ़

खूब भड़काने की कोशिश की है, खासकर पं. रूपनारायण पाण्डेय को और लाला सीताराम बी.ए. को। पहली मर्तबा भी पाण्डेय जी को उभारना चाहा था, लाला जी को पहले "समालोचक" की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर "हज़ार बार शुक्र" भेजकर बधाई दी थी, इस बार नये सिरे से उन्हें भी ले लिया। यह उन पर अपनी समझ से अहसान कर रहे हैं, दोस्ती और वकालत का हक अदा कर रहे हैं। परमात्मा ऐसे नादान दोस्तों से बचावे –

"हुए ये दोस्त जिसके दुश्मन उसका आसमाँ क्यों हो !"

श्री पाण्डेय जी की उस गल्प के सम्बन्ध में "समालोचक" ने सिर्फ़ यह लिखा था कि "इसमें बंगला-गल्प की गन्ध आती है, पर जिस ढंग से कहानी शुरू की गई थी, उपसंहार वैसा नहीं हुआ, उपसंहार में कुछ जल्दी की गई जान पड़ती है।" इसका मतलब आप समझे हैं कि हमने पाण्डेय जी की उक्त गल्प को "बंगला गल्प का अनुवाद कहा है और उसे निकम्मी सिद्ध करने की चेष्टा की है।" – कुर्बान जाइए इस समझ-बूझ के ! मतलब यह था कि उक्त गल्प उस ढंग पर या उस स्टाइल में लिखी गई है, जैसा ढंग या स्टाइल बंगला-गल्पों का होता है, और बंगला-गल्पें अपनी मनोरमता के लिए प्रसिद्ध हैं (न कि निन्दनीय, जैसा आप समझ रहे हैं) "मैं भोगीलाल भट्ट का लड़का कभी असंगत बात नहीं कह सकता" इत्यादि वाक्यों की रचना भी बंगला-ढंग की है, उपक्रम और उपसंहार की अनुरूपता या अननुरूपता के विषय में घुसड़पंच बनकर टाँग अड़ाना, दख़लदरमूलात का दर्जा रखता है, हम समझते हैं, आपकी इस भौंडी वकालत के बारे में पाण्डेय जी की भी यही राय होगी। रही लालाजी की बात, उनकी हिन्दी के "ग्रेजुएटी हिन्दी" होने में तो आपके सिवाय किसी भी समझदार को सन्देह नहीं हो सकता, लालाजी का यह लेख "समालोचक" को पसन्द आया था, यह बात तो आप खुद ही मान चुके हैं फिर इस "हलफ़दरोगी" से आपका मतलब ! सच है – "दरोग़ गोरा हाफ़ज़ा न वाशद्" –

"मनोरमा" की उस समालोच्य "ध्वनि" में किसी भी अच्छे कवि की कविता न थी, ज़रा बतलाइए तो वे "बड़े-बड़े कवि" कौन थे, जिनकी "कविता को भी हेच बतलाया गया !" कहीं आपका मतलब "सच्ची बात" की लेखिका, श्रीमती "याकाचित् घरेलू विद्यालय की एक छात्रा" से तो नहीं है ? आप ज़बरदस्ती लोगों की हमदर्दी हासिल करके उन्हें अपने मातम में शरीकहाल करना चाहते हैं, आपकी यह कला भी पूरी उतरती दिखाई नहीं देती, पबलिक ऐसी नासमझ नहीं है, जैसा उसे आप समझ रहे हैं, इन शुतर ग़मज़ों का जादू उस पर न चल सकेगा। आपकी नासमझी पर अफ़सोस से आपके बूढ़े समालोचक को "आतिश" का यह शेर (थोड़ी-सी तबदीली के साथ) पढ़ना पड़ रहा है –

"न समझा पर न समझा मेरे उस मज़मून का मतलब।
मुकद्दर ने मुझे मायल किया तिफ़्ले-कौदन पर ॥"

रामत्रस्त मारीच की तरह आपको हर तरफ पं. पद्मसिंह शर्मा ही नज़र आ रहे हैं, इसी में आप अपनी मुक्ति का उपाय ढूँढ रहे हैं कि समालोचना का लेखक किसी तरह पं. पद्मसिंह शर्मा को सिद्ध कर दिया जाय और बस सब पापों से पिण्ड छूट जायेगा। "मनोरमा" के दामन

पर फिर कोई दाग बाकी न रह जायेगा, उसका पाँव भारी न रहेगा, और आपकी पीठ के इलज़ामों का कजावा उतर जायेगा, रेगिस्तान के प्रसिद्ध "कश्चित् पक्षि विशेषः" के समान हवा से बातें करते उड़ चलेंगे ! न मालूम यह सौदा इनके दिमाग में क्यों समा गया है, लेख पर कुछ न कहकर लेखक की तलाश में क्यों हैरान और परेशान भटकते फिर रहे हैं । एक महापुरुष का कथन है कि – "यह मत देख किसने कहा, बल्कि देख क्या कहा ?" – और एक यह है जो यह देखना ही नहीं चाहते कि "क्या कहा है" बल्कि तमाम लियाकत इसी तलाश में खर्च कर रहे हैं कि "किसने कहा" ।

शुरू से बराबर यही रोना रोते आ रहे हैं – "हाय हमने 'सतसई' की समालोचना क्यों की जो हम पर यह आफ़त आई, न समालोचना लिखते न यह फ़जीहत होती" पर इनका ऐसा समझना निरी नादानी और शुद्ध भ्रांति है, इन्हें "ग़ालिब" का यह शेर पढ़कर सन्तोष करना चाहिए, होनी टलती नहीं –

"घर हमारा जो न रोते भी तो वीरां होता,
बहर गर बहर न होता तो बियाबां होता ।"

सतसई पर आलोचना उसमें न होती तो भी उसकी समालोचना होती है, वही नहीं उसकी हद हरएक अदा दिल छीनने वाली थी "सच्ची बात" और "हिंदी कादम्बरी" क्या कुछ कम सितम ढाने वाली थीं ।

"बलाए-जां है 'ग़ालिब' उसकी हर बात ।
इबारत क्या इशारत क्या अदा क्या ।"

जो चीज़ बाजार में आती है, उसकी जाँच-पड़ताल होती ही है, पर लोगों की "मनोरमा" जब इस आन-बान से निकली तो उस पर किसी की नज़र क्यों न पड़ती । इन्साफ़ शर्त है –

"मुझी से तुम यह कहते हो कि नीची रख नज़र अपनी,
तुम उससे क्यों नहीं कहते न निकलें यों अयां होकर !"

"समालोचक" और पद्मसिंह शर्मा को एक व्यक्ति समझकर आपने खूब ज़मीन आसमान के कुलाबे मिलाने की कोशिश की है और बेतुकी हाँकी है । पं. पद्मसिंह शर्मा का एक "मौखिक बयान" (जिसकी सत्यता में हमें सन्देह है) पेश करके "समालोचक" की ज़बान बन्द करना चाही है, सम्भव है कोई उड़ती चिड़िया आपके कान में यह कह गई हो कि "पं. पद्मसिंह शर्मा को इस व्यर्थवाद का दुःख और पश्चात्ताप है" – पर "समालोचक" को इसका जरा भी दुःख नहीं, वह तो समालोचना को साहित्य का एक आवश्यक अंग समझता है और आवश्यकता होने पर अहम्मन्य पाखण्डियों की पोल खोलना पश्चाताप नहीं, पुण्य का काम मानता है । आखिर हिन्दी में "समालोचना-प्रक्रम" पर भी उपदेश आपने उगल ही डाला ! जिसमें अव्वल से आखिर तक पं. पद्मसिंह शर्मा के समालोचना-प्रकार का रोना रोया गया है, शर्मा जी का समालोचना-प्रकार अच्छा है, या बुरा, इस पर हम कुछ कहना नहीं चाहते, वह जैसा है, सब जानते हैं, वह यदि प्रशस्य बतलाता जाता है तो इस दोष के दोषी आप (मनोरमा-सम्पादक) भी तो हैं ? आपको शायद याद नहीं रहा कि आप उसके बारे में पहले

क्या कह गये हैं, "बिहारी की सतसई" की आलोचना के अन्त में अपने यह वाक्य पढ़िए –

"सतसई संहार के विषय में हम क्या कहें, इसकी लेखन-शैली और मार्मिकता तो प्रसिद्ध ही है, इससे पहले कई बार हम उसकी प्रशंसा कर चुके हैं।"

पहले कई बार प्रशंसा करके अब एकदम उसकी (पं. पद्मसिंह शर्मा के समालोचना-प्रकार की) ऐसी निन्दा करते, उसके विरुद्ध आन्दोलन उठाते आपको जरा भी संकोच न हुआ ! खैर, अपने राम को इससे क्या, आप उसकी कई बार प्रशंसा कीजिए या एकदम निन्दा, "समालोचक" को तो आपकी मनोरमा से मतलब है, आप उसकी सफ़ाई पेश कीजिए, गैर मुताल्लिक और खारिज़ अज़ बहस बातें बनाकर मतलब खब्त न कीजिए। श्री द्विवेदी जी और श्री चतुर्वेदी जी के फ़ैसले से आप क्यों दुम दबाकर दूर भागने लगे ! चतुर्वेदी जी का नाम तो इस काम के लिए आपने ही पहले पेश किया था ! आप ही ने तो लिखा था कि "इस बात के लिए हम वर्तमान हिन्दी-लेखक पण्डित-मण्डली में व्याकरणाचार्य पण्डित गिर (रि ?) धर शर्मा चतुर्वेदी जी को सबसे योग्य समझते हैं, उनके पाण्डित्य और उदासीन भाव (?) को हम निसन्देह श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, यही कारण है कि प्रकारान्तर से 11वीं ध्वनि में (मनोरमा की 11वीं संख्या में) हमने उन्हें इस काम के लिए सादर निमन्त्रण दिया है।"

अब आप "श्रद्धास्पद" चतुर्वेदी जी को सन्देह की दृष्टि से क्यों देखने लगे ? उन्हें जो "सादर निमन्त्रण" दिया था, उसे अकारण क्यों कैंसिल कर दिया ? आप जानते नहीं, किसी विद्वान ब्राह्मण को निमन्त्रण देकर वापस करना कितनी बुरी बात है !

श्री द्विवेदी जी महाराज के सम्बन्ध में इस प्रसंग में जिस बद्‌गुमानी का इज़हार आपने किया है, वह आप ही का हिस्सा है, आप फर्माते हैं – "सम्भव है आप (यानी समालोचक) द्विवेदी जी के भी (?) चरण छू आये हों, ऐसा न होता, तो उन्हें पंच बनाये जाने का प्रस्ताव न किया जाता।" – अलंकारशास्त्री जी के इस "निश्चयान्त सन्देहालंकार" वाक्य का मतलब यह हुआ कि "समालोचक" अपने हक में फैसला लेने के लिए पहले श्री द्विवेदी जी के जाकर चरण छू आया है, फिर उन्हें पंच बनाने का प्रस्ताव किया है। इस पर सिवाय इसके और क्या कहा जाय कि "अंधे को अँधेरे में बहुत दूर की सूझी" इस बेहूदा बदगुमानी की भी कोई हद है। मानो चरण छूना श्री द्विवेदी जी के लिए बहुत बड़ी "डाली" है, और वह इतने दुर्बल हृदय हैं कि इस प्रलोभन में पड़कर विपरीत व्यवस्था देने में दरेग न करेंगे।

श्री द्विवेदी जी जैसे विद्या वयोवृद्ध ब्राह्मण को चरण छूकर अभिवादन करना "समालोचक" के लिए सौभाग्य और गौरव की बात हो सकती है, पर श्री द्विवेदी जी के लिए यह "रिश्वत" या "डाली" नहीं हो सकती। यदि आपकी यह बदगुमानी आपकी खातिर से सही भी मान ली जाय तो भी आप ही का पल्ला भारी रहेगा, समालोचक ने तो चरण छुए हैं, सो भी सबके सामने नहीं, पर आपने तो "हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति" शीर्षक नोट में प्रकट रूप से द्विवेदी जी की भरपेट प्रशंसा की है। आपके मत से आपके इस कार्य का द्विवेदी जी पर और भी अधिक असर पड़ना चाहिए, फिर भी आप उन्हें पंच मानने में क्यों झिझकते हैं !

आप किसी को पंच मानना नहीं चाहते तो जाने दीजिए, न मानिए पर पंचों की नेकनीयती पर हमला करके खाहमखाह बिला वजह अपनी बदगुमानी का सबूत तो न दीजिए, यही कह दीजिए कि हमें किसी का फैसला मंजूर नहीं।

आपको अपने "कस्बी" होने का शक है, "कस्बी" की निस्बत आप "कस्बाती" कहलाना ज्यादा पसन्द करते हैं, इसकी भी एक खास वजह है, आपकी दाया जो बचपन में उस्तानी भी थी और जिसका ज़बांदानी के मुताल्लिक़ यह दावा था –

"मैं वह शाइरनी हूं गर पकड़े कोई मेरी ज़बां,
लाख मिर्ज़ा को सुनाऊँ सौ सुनाऊँ मीर को ॥"

सुना है उसने कहीं आपके कान में कह दिया था कि "बच्चा" तुम "कस्बाती" हो! यह वह तालीम है जो छुट्टी के साथ मिली थी, फिर भला आप इसे कैसे भुला सकते हैं, यह तो आपकी दाया की बात हुई, लेकिन हमने क़सबातियों को "कसबी" कहते ऐसे आदमियों को सुना है जिनके यहाँ की चमारी ही नहीं, हलालखोरी भी आपकी जबान पकड़ सकती है।

"सच्ची बात" और "हिन्दी कादम्बरी" पर किये गये पहले आक्षेपों का उत्तर आपसे कहाँ तक बन पड़ा है, इसका निर्णय तो समझदार सदृश करेंगे, पिछली शंकाओं का उत्तर आप कुछ देते ही नहीं अभी सिर्फ़ वादा ही करते हैं कि "उन्हें (?) भी आपको अच्छी तरह समझा दिया जायेगा" – बहुत अच्छा, देखा जायेगा आप क्या समझाते हैं। जब आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे – अच्छी तरह समझा देंगे – तभी मैं कुछ और अर्ज करूँगा। यदि इस प्रसंग को इसी दशा में छोड़कर अपनी विजय-दुन्दुभि भेरी बजाते हुए आप भागना चाहते हैं तो मेरी ओर से भी छुट्टी है, जाइए –

"गच्छ शूकर भद्रं ते वद सिंहो मया जितः।
पण्डिता एव जानन्ति सिंहशूकरयोर्बलम् ॥"
"विश्रब्धैः क्रियतां वराह पतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले,
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मधनुः।"

–समालोचक

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, 1920 ई.)

36

संस्मरण

बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण

कष्टो जनः कुलधनैरनु रञ्जनीय
स्तन्मे यदुक्तमशिवं नहि तत् क्षमं ते।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्नरचरणैरवताडनानि॥ (भवभूतेः)

"काशी नागरी प्रचारिणी सभा" का गृहप्रवेशोत्सव मंगलपूर्वक हो चुका था। महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी जी ने "धनि भाग आज या भवन में नाथ तिहारे पग पड़ै" कहकर सर डिग्गस लाटूश का स्वागत किया था, और माननीय पण्डित मालवीय ने चमकती अंग्रेजी की छोटी स्पीच में उन्हें "गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ" कह दिया था। दूसरे दिन प्रातःकाल का समय है। मि. जैन वैद्य और हम, सिद्धेश्वर प्रेस से, कपड़े पहनकर, बाहर निकलने को तैयार हैं। इतने में सज्जन "जैन वैद्य जी हैं क्या ?" इस प्रश्न के पीछे आ खड़े हुए। हमने देखा, उनके शरीर पर मोटे बनारस सिल्क का चपकन और चोगा है, पजामा है, बादामी बूट है। सिर पर उस ढंग का बंगाली शमला है जिस ढंग का महामहोपाध्याय पदवी पाने वालों को सरकार से खिलत में मिला करता है। पूछने पर उसने परिचय दिया कि – "मैं मुजफ्फरपुर से आता हूं।" इस पर हम अपनी मुस्कुराहट को न रोक सके, क्योंकि काशी में दो दिन से ही "खड़ी बोली वाला आता है, खड़ी बोली वाला आता है" की धूम मच रही थी। जिस मूर्त्ति के लेख, नाम और वर्णन पत्रों में पढ़े जाया करते थे, उसे यों अचानक सामने देखकर एक विलक्षण भाव उत्पन्न हुआ। अस्तु, परस्पर के परिचय के पीछे हम लोग एक गाड़ी पर सवार होकर चले। पहले मैंने प्रश्न किया कि आप कल के उत्सव में आ पहुंचे थे वा नहीं। उसने इसके उत्तर में "हां" कहकर कहा कि एड्रेस गंवारी बोली में क्यों दिया गया, यदि वह खड़ी बोली में होता तो हम मुसलमानों को भी अनुकूल कर सकते। गंवारी बोली यह बाबू अयोध्याप्रसाद का "ब्रजभाषा" के लिए प्यारा नाम था। एक आध बार उसने उस दिन भी कहा – "जब तक यह गंवारी हमारे सभ्य साहित्य का पल्ला न छोड़ेगी तब तक इसकी उन्नति न होगी।" हमने भी कहा – "आप तलाक दिलाकर मानियेगा !" अस्तु, बाबू साहब को उन कठिनाइयों का ज्ञान न था जो खड़ी बोली में एड्रेस देने पर सभा को पड़तीं, क्योंकि सबके सामने पालिसी में "सरल भाषा के पक्षपाती" बनने वालों को निखालिस उर्दू शब्द काम में लेना पड़ते और काशी के

नाम को कुछ गौरव से रहित करना पड़ता। हमने ध्यान सेदेखा बाबू अयोध्याप्रसाद के नेत्र बिलकुल श्वेत थे। उनके बाल कहीं-कहीं सफेद थे इसलिए इस अवस्था में भी आंखों में लाल डोरों के अभाव का हम पर असर पड़ा। हम ज्यों-ज्यों ध्यान से उन पथराई हुई "धोली आंख धणी" को देखते थे, त्यों-त्यों उनकी भाव-शून्यता और नीरसता मालूम होती जाती थी, जो मनुष्यों में अधिकांश के साथ विरोध रखने का फल और लक्षण है। वे कुछ ठहर-ठहरकर श्वास लेते थे और चकित होकर इधर-उधर तकते थे, मानो किसी भय में हैं। उनके अधरोष्ठ पर दो दांत निकले हुए थे और उनके ओष्ठ कुछ खुले हुए ही रहते थे। मालूम होता है कि यह gape करने की आदत उन्हें अधिक विरोध की शंका से हो गई थी। पं. नारायण पाण्डे के कालनिर्णय की बात चली तो, उसने कहा कि मुझे कलेक्टर साहब ने मुकद्दमे में रजामन्दी करने को बाधित किया था। उसने कहा था This case must be compromised out of court। पीछे जब उन्हें मालूम हुआ कि हम सारस्वत ब्राह्मण हैं तो वे बोले – "हम खत्री हैं, आपके यजमान हैं, आपको तो हमारा पक्ष लेना चाहिए न कि पं. नारायण पांडे का जो आप से भिन्न ब्राह्मण है।" हमारे भिन्न ब्राह्मण का अर्थ पूछने पर उसने कहा कि ब्रजभाषा के पक्षपाती हरिश्चन्द्र अगरवाले थे और हम खड़ी बोली के रिफार्मर खत्री हैं इससे भी आपको हमारी ही तरफ होना चाहिए। इस तर्क से हम दंग आ गए। सभा वाले हिन्दी साहित्य का एक इतिहास लिखने वाले हैं, इस प्रसंग में आपने कहा – "चाहे ये लोग कुछ करें इनके ब्रेन नहीं हैं; हमें चार घण्टे किसी लाइब्रेरी में बिठा दीजिए, झटपट इतिहास लिख डालें, ये लोग ऐसा ब्रेन कहां से लावेंगे?" फिर उनके खड़ी बोली आन्दोलन की वर्तमान अवस्था और सभा में उनके प्रस्ताव की सफलता की बात चली। उसने कहा – "प्रभुदयाल पांडे पं. प्रतापनारायण मिश्र का शिष्य था। उसने प्रतापनारायण मिश्र को खड़ी बोली का आदि पक्षपाती लिखा है। इसपर हमने लिखा कि जैसे परशुराम ने जमदग्नि के वास्ते कार्तवीर्य को बलि दे दिया उसी तरह से आप हमें भी अपने गुरु के लिए बलि दे दीजिए। अब हम बनारस में आए हैं, आप लोग सब मिलकर हमें मार डालिए – मार डालिए, हां साहब, मार डालिए।" इतने में चौंकते हुए हम "चौक" पहुंचे, और वहां माननीय पण्डित मालवीय जी की गाड़ी सामने से आ गई। वहां उन्होंने हमें अपने साथ क्वीन्स कालेज ले जाने का आग्रह किया। लाचार हमें बाबू अयोध्याप्रसाद की मनोरंजक बातों से विदाई लेनी पड़ी। हमने उन्हें अपने साथ जाने को तैयार न पाकर पूछा कि आप कहां ठहरे हैं? उत्तर मिला – "गाय घाट पर, वहां मेरी लड़की की ससुराल है। वे भी नारसिए हैं, दो-तीन साल से उसे मेरे घर नहीं भेजते। इन बनारसियों के एक समूह ने तो मेरी खड़ी बोली को दु:ख दे रखा है और दूसरा मेरी पुत्री को मेरे से मिलने के लिए भी नहीं भेजता।" इस पर हमने हंसकर कहा कि "बेटियां अपने ही घर शोभा पाती हैं, पिता के घर नहीं। आप दोनों को अच्छी तरह इन्हीं बनारसियों के हवाले कर दीजिए।" इस पर हंसकर हाथ मिलाकर बाबू साहब चले गए।

उस ही दिन सायंकाल को फिर बाबू अयोध्याप्रसाद के दर्शन हुए। सभा के पुस्तकालय में बाबू साहब बैठे थे। वहीं पर उन्होंने हम को पण्डित केशवराम भट्ट का हिन्दी व्याकरण

दिखाया और शिवहर स्कूल के हेडमास्टर रामदास राय का बनाया खड़ी बोली कविता में मिल्टन के "पैरेडाइज लास्ट" की द्वितीय पुस्तक का अनुवाद मिस्टर जैन वैद्य को, और उनके द्वारा हमको, दिया। पीछे उन्होंने वह लेख भी हमें दिखाया, जिसे वे कल की सभा में पढ़ा जाने के लिए लाए थे। इसके पीछे एक ऐसी शोचनीय घटना हुई जिसका उल्लेख हम नहीं करना चाहते, परन्तु बाबू साहब की स्वर्गीय आत्मा के अनुरोध से हमें उसे कहना ही पड़ता है। उस समय सभा के सभी उपस्थित मेम्बरों का फोटो लिया जाने वाला था।

"विमल बी.ए. पास बाबू श्यामसुन्दरदास" हम को तो हाथ पकड़ कर तीन-तीन दफ़ा फोटो के लिए ले चले परन्तु बाबू साहब से उन्होंने आंख तक न मिलाई। यही नहीं, यदि हम बाबू साहब को पकड़ कर न ले जाते, तो शायद मेरे पास की कुर्सी पर बैठे रहने और मुझ से बातचीत करते रहने पर भी उन्हें कोई फोटो के लिए न ले जाता। फोटो में भी मि. वैद्य उन्हें अपने साथ लेकर खड़े हुए, नहीं तो बिचारे पांचवीं छठी पंक्ति से भी बाहर धकेले गए थे। खैर, फोटो उतरा, मालवीयजी की सभा हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल हम गंगास्नान से लौट रहे थे। राह में बाबू श्यामसुन्दरदास के मकान में पहुंचे। देखा खासी मण्डली जमी है। रेवरेण्ड एडविन ग्रीव्ज हैं जो पूछ रहे हैं कि लोटा मांजने से क्यों पवित्र हो जाता है। बाबू गोपालदास हैं। शायद पण्डित गणपति जानकीराम दुबे भी हैं। और हैं, जमीन छीलते हुए बाबू अयोध्याप्रसाद। प्रायः आध घण्टा हम बैठे रहे, परन्तु बाबू अयोध्याप्रसाद से कोई न बोला। उनकी "खड़ी बोली डायरी" के पृष्ठ पण्डित गणपति दुबे के हाथ में थे। आखिर बाबू साहब चले गए। तब बाबू श्यामसुन्दरदास ने कहा कि – "ये मुझ से यह कहने आए थे कि आज की सभा में मेरा प्रस्ताव बिना विरोध पास करा दो तो मैं सभा में आऊं। तुम लोगों ने बिहारी डेलिगेटों के न आने देने के लिए आजकल उत्सव किया है। इसके उत्तर में मैंने कहा कि मैं यह गारन्टी नहीं दे सकता कि आप का प्रस्ताव बिना विरोध के पास हो ही जाएगा।" हम भी चले आए। सायंकाल को सभा में बाबू साहब नहीं आए। बड़े झगड़े के बाद उनका प्रबन्ध पण्डित गणपति जानकीराम दुबे ने पढ़ा। सभा में इसका कोई प्रबल विरोध नहीं हुआ। अवश्य ही सभा "ब्रजभाषा से हिन्दी साहित्य का पिण्ड छुड़ाने" को तैयार न थी परन्तु उसने इस प्रस्ताव के मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं की कि "खड़ी बोली में भी कविता हो और सभा उसके लिए विशेष उत्साह प्रदान करे।" बाबू राधाकृष्णदास के जलपान में भी बाबू अयोध्याप्रसाद नहीं आए थे। दूसरे दिन बाबू राधाकृष्णदास से वे मिले थे। अपनी परम प्रसन्नता और सभा के "सुबह के भूले के शाम को घर लौट आने" पर हर्ष प्रकट करके अपने घर चले गए। वहां जाकर उन्होंने लाल स्याही से अपना खड़ी बोली का विजय घण्टा घोष छापा। बस, यही हमारा उनका साक्षात्कार हुआ। यह फरवरी की बात है। अगली गर्मियों में बाबू साहब ने मिस्टर जैन वैद्य को और हमको लीचियां बहुत खिलाईं – बहुत ही खिलाईं। हम सदा उन लीचियों और उनके मनोविनोदी दाता को स्मरण करेंगे। इस वर्ष गर्मियां खूब पड़ीं और जब हम आबू में दुर्लभ लीचियों का जिह्वा से प्रत्यक्ष करते तब हमें हठी किन्तु सरलहृदय, तीव्र किन्तु मुग्ध, साहित्यरिफार्मर कहलाने के लोभी परन्तु काम करने वाले, बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण से

हृदय में एक अपूर्व भाव उत्पन्न हो जाता ।

काशी के साक्षात्कार के कुछ दिन पहले बाबू अयोध्याप्रसाद ने एक पन्द्रह सेर का पुलिन्दा मि. जैन वैद्य के पास भेजा था । उसमें बाबू अयोध्याप्रसाद का सर्वस्व था । या यों कहिए कि जिस-जिस पत्र में या जिस-जिस मित्र को उन्होंने खड़ी बोली के बारे में जो टिप्पणी या लेख लिखा था, उसकी यह फाइल थी । यह साहित्य का कौतुक, यह शास्त्रार्थों का किब्लेगाह, हमने और मि. वैद्य ने बड़े ध्यान से पढ़ा था । वे ही कागज बाबू साहब ने काशी की सभा के मौके पर भेज दिये थे । यही उनका अमोघ शस्त्र था, यह उनका गाण्डीव था । उसमें एक अंगरेजी नोट भी हाथ का लिखा रखा था । यह लिखा किसी और का है, परन्तु नीचे अंग्रेजी में Ayodhya Prasad हस्ताक्षर हैं और 24-12-03 तारीख है । इसका अनुवाद हम पाठकों को सुनाना चाहते हैं । साथ-साथ ब्रेकेट में जो टिप्पणियां हैं वे हमारी लिखी हुई हैं –

हिन्दी कविता की भाषा के सुधार के दो पीरियड हैं ।

(1) सन् 1876 से 1887 तक । इस पीरियड का आरम्भ मेरे हिन्दी व्याकरण के बनने से हुआ । उसके पीछे बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने "योगी" नामक पण्डित स्टाइल की खड़ीबोली की कविता बनाई (1876), उसके पीछे बाबू महेशनारायण ने "स्वप्न" लिखा । यह मुन्शी स्टाइल में खड़ी बोली का निबन्ध है जो वड्र्सवर्थ की "ओड आन इमार्टेलिटी" के छन्द में बना है । (1881) (हिन्दी साहित्य की दृष्टि में ये दोनों ग्रन्थ मर चुके हैं ।)

(2) सन् 1887 से आजकल तक । मेरी "खड़ी बोली पद्य" प्रथम भाग मुजफ्फरपुर में 1887 में छपा । वृन्दावन के पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने इसकी तारीख 11-11-87 के "हिन्दोस्थान" में समालोचना की । इस पर उसी पत्र में मेरे दल के पंडित श्रीधर पाठक और विरोधी दल के पंडित प्रतापनारायण मिश्रा में बड़ा भारी विवाद हुआ । इस बहस ने हिन्दी साहित्य में जो कुछ भी प्रेम रखते थे उनके सामने खड़ी बोली कविता के गुण और दोष रख दिये । उस समय से सभी विद्वानों ने इस विषय पर पूरा ध्यान दिया है और बहुत-सी खड़ी बोली कविताएं लिखी गई हैं ।

पूरी तौर से देखा जाय तो फल सन्तोषदायक है जैसा कि चाहा जा सकता है । इस आन्दोलन से जो हिन्दी भाषा उत्पन्न हुई वह मेरी डायरी के पृष्ठ 21 में "अंगरेजी पीरियड की हिन्दी का तीसरा काल" नाम से लिखी गई है । जैसा मैंने ऊपर कहा है, पहला साधारण आन्दोलन, मेरी खड़ी बोली पद्य के प्रथम भाग के छपने पर "हिन्दोस्थान" के द्वारा आरम्भ हुआ था । दूसरा साधारण आन्दोलन सन् 1888 ई. में उसी पुस्तक के लंदन में छपने पर हुआ और "हिन्दोस्थान" और, आजकल बन्द, पं. भुवनेश्वर मिश्र की सम्पादित, "चम्पारण चन्द्रिका" ने इसमें भाग लिया । यद्यपि "हिन्दोस्थान" स्पष्ट विरोधी नहीं था, तो भी उसने खड़ी बोली कविता पर कुटिल आक्षेप किये और "चम्पारण चन्द्रिका" ने इस पक्ष का समर्थन किया । (उन्हीं दिनों "चम्पारण चन्द्रिका" में बाबू अयोध्याप्रसाद ने खड़ी बोली रामायण के लिए प्रति पंक्ति एक रुपये का विज्ञापन दिया था । खेद है कि इस खड़ी बोली शहनामे का कोई फिरदौसी नहीं खड़ा हुआ) ।

आन्दोलन का तीसरा समय जनवरी 1901 की "सरस्वती" ने आरम्भ किया। वहां प्रथम लेख भूमिका के सम्पादक ने यद्यपि खड़ी बोली आन्दोलन का मण्डन किया तो भी उसमें मेरे भाग को वह भूल गये। (शायद यही आन्दोलन का उद्देश्य था कि खड़ी बोली के साथ बाबू साहब का भी नाम अवश्य रहे) इस पर पत्र- व्यवहार और आन्दोलन शुरू हुआ। देखो : मेरी डायरी पृष्ठ 1। यह भूल मार्च 1901 की "नागरीप्रचारिणी पत्रिका" ने भी जारी रखी। परन्तु उन सब ने अपनी गलतियां स्वीकार कीं और मेरे हक कुबूल किये। देखो : ''सरस्वती" जून 1901 ई.।

आन्दोलन के इस समय में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात "काशी नागरीप्रचारिणी सभा" का मत-परिवर्तन है। सभा में बहुत-से जीवित विद्वान हैं और वह हिन्दी साहित्य के उस बड़ की प्रतिनिधि है जो भूतपूर्व हरिश्चन्द्र ने कायम किया था। उसने खड़ी बोली के विरुद्ध लिखा था और मेरे आन्दोलन के विरोधी सदा उनकी दुहाई देते थे। अपनी 1817 की पत्रिका के पृष्ठ 30 में सभा ने आन्दोलन की बुरी समालोचना की थी और मुझे गालियां दी थीं।[1] परन्तु वह अब बिलकुल बदल गई है और खड़ी बोली कविता का पक्ष लेती है। देखो, जनवरी 1901 की "सरस्वती" का दूसरा पृष्ठ। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय जो बाबू श्यामसुन्दरदास "सरस्वती" के सम्पादक थे, वे "नागरीप्रचारिणी सभा" के मन्त्री थे और हैं। "सरस्वती" के टाइटिल पेज पर "नागरीप्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित" भी मिलता है। फिर फरवरी-मार्च, 1903 ई. की "सरस्वती" के पृष्ठ 19 में नये सम्पादक पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी, जो सभा के मेम्बर हैं, मेरे मत का पूरा समर्थन करते हैं।

---

1. बाबू साहब का इशारा बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" की इस कविता पर है —

पै अब केते भये हाय इमि सत्यानासी
कवि और जांचक रस अनुभवसों दोऊ उदासी,
शब्द अर्थ को ज्ञान न कछु राखत उर माहीं,
शक्ति निपुनता औ अभ्यास लेसहू नाहीं,
बिन प्रतिभा के लिखत तथा जांचत विवेक बिन,
अहंकार सो भरे फिरत फूले जित निशिदिन,
जोरि बटोरि कोउ साहित्य ग्रन्थ निर्मने,
अर्थ शून्य कहुं कहु विरोधी लक्षन ठानै
जानत हूं नहिं कहा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असंभव,
बनि बैठत साहित्यकार, आचार्य स्वयं भव।
जात खड़ी बोली पै कोउ भयोदिवानो,
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है अरूझानो।
अनुप्रास प्रतिबंध कठिन जिनके उर मांही,
त्यागि पद्यप्रतिबन्धहु लिखत गद्य क्यों नाहीं ?
अनुप्रास कबहूं न सुकवि की शक्ति घटावैं,
वरू सच पूछो तो नव सूझ हियें उपजावै।
ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखें फीके,
मांगहिं विधना सों ते श्रवन मानुषी नीके।

इस आन्दोलन का छोटा इतिहास भूमिहार ब्राह्मणपत्रिका, भाग 3, संख्या 1 में छपा है –

मालूम होता है, जैसे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी अपने कालचक्र में "हरिश्चन्द्री हिन्दी नए ढाल में ढली" लिख गए हैं, वैसे ही "पण्डित श्रीधर पाठक, बाबू हरसहायलाल (?) और पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी" को "अयोध्याप्रसाद के आन्दोलन से सुधरी हिन्दी" कहकर नया तट बांधने का बाबू साहब को बड़ा आग्रह था। इस पर उन्होंने मन-ही-मन अपने शत्रु बना रखे थे। जब मार्च 1901 की "नागरीप्रचारिणी पत्रिका" में खड़ी बोली-कविता को महारानी विक्टोरिया के राज्य काल की एक घटना कहा गया तब बाबू साहब ने पण्डित श्रीधर पाठक को यह पत्र लिखा – "सभा वालों ने खड़ी बोली कविता में आपको सम्मानपूर्वक आसन दिया है परन्तु जहां आप हैं वहीं आपका सेवक मैं भी हूं। परन्तु मेरा नाम नहीं लिखा गया। इसका कारण यह है कि मैंने तो "एक अग्रवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना" लिखी थी, और आपने हरिश्चन्द्राष्टक की 1000 प्रति बांटी थीं। शब्द हमें ठीक-ठीक स्मरण नहीं पर उस पत्र का आशय यही था। इधर पण्डित भुवनेश्वर मिश्र ने, एक जगह, यों लिखा है – "पहले बाबू अयोध्याप्रसाद किले के नीचे खड़े थे, और शत्रु उन पर किले से हमला करते थे। अब बाबू साहब लकड़ियों और घास के सहारे किले के टीले पर चढ़ गए हैं।" खड़ी बोली कविता का वास्तव में किसी ने विरोध नहीं किया। केवल पण्डित राधाचरण गोस्वामी अपने विरोध में दृढ़ रहे। वास्तव में सभी खड़ी बोली के अनुकूल थे। भारतेन्दुजी की दुहाई दी जाती है, परन्तु जैसा अच्छा उनका "दशरथविलाप" हुआ है, ऐसी मुंशी स्टाइल की खड़ी बोली क्या किसी ने लिखी है ? बनारसी गिरि की लावनियां काशी में खड़ी बोली में बनती आई है। भारतेन्दुजी के पिता का बनाया रेखते का पद है। काशी को जो ब्रजभाषा के पक्षपातियों और खड़ी बोली के विरोधियों का अड्डा कहा गया है, वह ठीक नहीं। भारतेन्दुजी ने एक जगह लिखा है कि मुझ से खड़ी बोली कविता अच्छा न हो सकी, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि खड़ी बोली कविता करो ही मत। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने "हिन्दोस्थान" में खड़ी बोली का विरोध किया था सही, परन्तु "संगीत शाकुन्तल" में जो बढ़िया खड़ी बोली कविता है वैसी अयोध्याप्रसाद जी के किस पक्षपाती ने लिखी है ? भूषण कवि के भी दो-तीन कवित्त खड़ी बोली के मिलते हैं। इसके विरुद्ध पण्डित श्रीधर पाठक को लीजिए, जिन्हें बाबू अयोध्याप्रसाद अपना परम पक्षपाती मानते हैं।

वास्तव में यदि खड़ी बोली में कोई कविता बनी है तो वह पाठकजी का "एकान्तवासी योगी" है। जिन बिहारियों का नाम बाबू अयोध्याप्रसाद बड़े आदर से लेते हैं, उनके खड़ी बोली काव्य हिन्दी - काव्य की दृष्टि में मर चुके हैं। परन्तु पाठकजी का 'उजाड़ गाम' अच्छा बना है वा श्रान्त पथिक ? कहां पहले की द्राक्षापाक कविता, और निसर्ग मधुर आनन्द, और कहां दूसरे की क्लिष्टकल्पना और खैंच-खांचकर खड़े शब्दों की जोड़-तोड़ ? अब भी पाठकजी का "भ्रमराष्टक" जितना मधुर है, उतना उनका "एड्विन और अंजलेना" नहीं। आजकल भी जो कुछ वे लिखते हैं ब्रजभाषा में ही उसका अधिक अंश होता है। उनके विरोधियों से इतनी सहायता मिलने पर भी बाबू साहब "खून लगाकर शहीद" बनने को तैयार

थे,यदि वास्तव में उनका विरोध होता तो न मालूम वे अपने को सुकरात लगाते या ईसा मसीह। काशी की सभा ने कभी उनका विरोध नहीं किया। जिस कविता पर उनका दंश था,वह बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" की थी, और सभा सदा से हिन्दी-साहित्य के इस अर्धांग पर विलाप करती आई है। अवश्य ही वह सूरदास और बिहारीदास की भाषा को धकेलकर उसकी जगह बाबू अयोध्याप्रसाद का Lions painted by themselves चित्र नहीं रख सकती। वास्तव में खड़ी बोली में अयोध्याप्रसाद और रामदास रायों की जरूरत नहीं है,जरूरत है सूरदासों और तुलसीदासों की। कृष्ण-भक्ति के कारण, प्राचीन वैष्णव ग्रन्थों के कारण, कथाभट्टों, रासधारियों और पुराने पंडितों के कारण ब्रजभाषा की "ताके धिपे" अभी तक महाराष्ट्र देशों तक गूंजती है। कोई सूरदास का-सा गारूड़ी आवे, जो खड़ी बोली की अकड़ी नसों और हड्डियों में मोहिनी फूंककर देश भर को मस्त कर दे। काल-निर्णय के पीरियडों पर लड़ना, सबको अपना शत्रु मानकर चलना,और बिहारियों को ही हिन्दी का एकमात्र अधिकारी मानना उचित नहीं। पद्य की भाषा गद्य की तरह से सदा अक्खड़ नहीं हो सकती; उसमें एक प्रकार की लोच वा मुड़ने की ताकत सदा चाहिए। अंगरेजी में भी साधारण भाषा में लोच आने से Saxon बन्द हुई, कोरे आन्दोलनों से नहीं। यह लोच ब्रजभाषा में ज्यादा है खड़ी बोली में कम। ब्रजभाषा वाले आग को "आगि" वा "आगु" कहते हैं,खड़ी बोली वालों ने "आगी" बनाया है। बैसवारी वाले "जहां" को "जहं" करते थे,बिहार वाले "जहवां तहवां" (ओह !) करते हैं। मोड़ने-तोड़ने में कमी नहीं है। अवश्य पण्डित राधाकृष्ण मिश्र की संस्कृत प्रायः खड़ी बोली बहुत अच्छी खिलती है,परन्तु यह बाबू साहब के प्यारे मुंशी स्टाइल से दूर है। और फिर क्या "फद फद फद फद प्यारी बोले चढ़ी चूल्ह पर दाल" – "प्यारी चमगुदड़ी" – अधेले की बूटी मिरच दमड़ी की लय लई – इनसे कभी साहित्य चमका है ? जितना जोश और जान, मरी ब्रजभाषा में बाबू राधाकृष्णदास के बनाए भारत बारहमासा और प्रताप विसर्जन में है उसकी एक कला भी क्या ईन "प्यारी चमगुदड़ी" कविताओं – पण्डित श्रीधर पाठक की कविता को हम पृथक् किये देते हैं – में मिल सकती है। जिस दिन किसी सुकवि की शक्ति में खड़ी बोली भी सरस हो जायेगी उस दिन ब्रजभाषा चुप रह जायगी। दोनों भाषाओं को कविता के लिए लड़ने दें। जीवन के लिए संग्राम होते-होते Survival of the fittest सत्तम का अवशेष हो जाएगा। डायरियों और आन्दोलनों के छपने और खून लगाकर शहीद बनने से यह काम न होगा,यह होगा,नये कवियों के जन्मने से। ब्रजभाषा से यों पिण्ड नहीं छूट सकता। कोई यह न जानें कि मैं खड़ी बोली की कविता का विरोधी हूं,मैं उसका समर्थक ही नहीं परन्तु लीक पीटने वाले ब्रजभाषा कवियों का निन्दक भी हूं। बाबू अयोध्याप्रसाद के यत्न-उद्योग,परिश्रम, व्यय,अध्यवसाय,और हिन्दी की प्रीति,सहायता की स्तुति करता हुआ भी मैं उन्हें "त्वमर्कस्त्वं सोमः" नहीं कह सकता, और न बिहारियों का उन्हें "खून लगाकर शहीद" बनाना देख सकता हूं। मेरा विचार था कि ये सब बातें बाबू अयोध्याप्रसाद से कहूं। परन्तु हां ! वह परोपकारी और हिन्दी भाषा के हितचिन्तन का व्रती मनुष्य अब इस लोक में नहीं है। चाहे उनके प्रकारों से लोगों का विरोध रहा हो, परन्तु वर्तमान युग में बिहार में क्या, हिन्दी भाषा के देश भर में,

ऐसा तीव्र किंतु सत्‌समालोचक, और उदार देशसेवक विरला ही मिलेगा। उन्होंने जो कुछ किया उसमें हिन्दी की हितकामना भरी हुई थी। लोगों ने उन्हें गालियां दीं, चिढ़ाया, सिड़ी समझा; उन्होंने भी छोटी-छोटी बातों पर नुक्ताचीनी की, बिना काम का द्वेष समझा, अपने को सताया और ईज़ा पहुंचाया गया समझा, परन्तु ऐसी बातें सदा होती आई हैं। आशा है कि उनकी आत्मा अब अपने किये हुए भले कामों के फल में अनन्त शांति भोगती होगी। जिन लोगों ने बेसमझे-बूझे, या अपने स्वार्थ के लिए, उनकी निन्दा वा उनसे विरोध किया होगा, वे अब इस लेख के ऊपर लिखे भवभूति के वाक्य को पढ़ते होंगे।

(प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, 1905 ई.)

37

ज्ञानमण्डल का 'स्वार्थ'

काशी का 'ज्ञानमण्डल' हिन्दी का भण्डार भरने के लिए विशेष रूप से अग्रसर हुआ है। 'ज्ञानमण्डल' द्वारा प्रकाशित कई पुस्तकों की समालोचना 'प्रतिभा' में समय-समय पर हो चुकी है। ज्ञानमण्डल केवल पुस्तकें प्रकाशित करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसने अपना प्रैस खड़ा करके एक मासिक पत्र भी निकाल डाला है। ज्ञानमण्डल के जिस 'स्वार्थ' की धूम थी, वह आखिर धन तेरस को निकल ही आया। पत्र के सम्पादक और लेखक सबके सब पूर्ण ग्रेजुएट हैं, इसलिए इस अंक को खास तौर पर 'ग्रेजुएटांक' कहें तो 'अत्योक्ति' (ग्रेजुएट सम्पादक-सम्मत यही रूप इसका है) नहीं है। यह हिन्दी के लिए कुछ कम हर्ष की बात नहीं है। ज्ञानमण्डल का कुछ यह उद्देश भी प्रतीत होता है कि वह हिन्दी के उद्धार के लिए ग्रेजुएटों को जुटावे। हमारे प्रान्तों के ग्रेजुएट जो अपनी मातृभाषा की सेवा में तत्पर नहीं होते, उसका यह भी एक कारण है, उन्हें इस काम के लिए कहीं से कुछ प्रोत्साहन नहीं मिलता। हिन्दी पत्रों के पुराने खूसट सम्पादक तो ग्रेजुएटों की इसलिए उपेक्षा करते हैं कि इन्हें हिन्दी लिखना नहीं आती, ग्रेजुएट हुए तो क्या हुआ, ग्रेजुएट होने से हर कोई हिन्दी का लेखक तो नहीं हो सकता। कालिजों में उन्होंने जिन विषयों को पढ़ा है, उनका उन्हें ज्ञान है, ग्रेजुएट की उपाधि सिर्फ इसी बात की सूचना है। इसका यह अर्थ नहीं कि ग्रेजुएट ख्वाहमख्वाह हिन्दी का लेखक भी है। हिन्दी लिखने और समझने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है, उससे हमारा ग्रेजुएट समाज कोरा रहता है, वह हिन्दी को सीखने और समझने की चीज़ नहीं समझता। वह समझता है कि जब हिन्दी 'मदरटंग' है, लोग उसे 'मातृभाषा' कहते हैं, फिर उसमें सीखने-समझने की क्या बात है ? जो लिख देंगे, वह हिन्दी होगा, इधर तो हमारे ग्रेजुएट समाज की यह धारणा है, उधर हिन्दी के पुराने पारखी उर्दू के धनी हज़रत 'दाग़' के सुर में अपना स्वर मिलाकर कहते हैं कि –

"नहीं 'दाग़' कुछ खेल यारों से कह दो
कि आती है उर्दू (हिन्दी भी) ज़बां आते-आते॥"

यानी उर्दू के आचार्य दाग़ के इस सिद्धान्त को हिन्दी के 'सुलेखक' कहलाने वाले लोग भी मानते हैं कि हिन्दी बच्चों का खेल नहीं है, वह भी प्रयत्नपूर्वक सीखने से आती है और आते-आते ही आती है, टपक नहीं पड़ती। पुराने लेखकों का नवीन दृष्टि में यह दखल 'दरमाकूलात' भी ग्रेजुएटों को हिन्दी के अखाड़े में नहीं उतरने देता। ज्ञानमण्डल का जन्म इस व्यर्थ के बखेड़े को मिटाने के लिए हुआ है। उसने अपने पहले ही प्रयत्न में कई छिपे रुस्तमों को हिन्दी के अखाड़े में लाकर खड़ा कर दिया है।

प्रायः पत्र प्रकाशकों में यह एक बड़ा कुसंस्कार फैला हुआ है कि वह अपने पत्र की प्रसिद्धि के लिए सर्वसाधारण पर पत्र की धाक बैठाने के लिए हिन्दी के किसी अच्छे सुलेखक को पत्र का सम्पादक चुनते हैं। भारत भर के सुलेखकों का नाम लेखकों की सूची में भरते हैं, तब कहीं पत्र निकलता है। खासकर पहले अंक के लिए तो इस कुसंस्कार का 'दौरात्म्य' बहुत ही बढ़ जाया करता है। पर ज्ञानमण्डल ने इस बात की रत्ती भर भी परवाह नहीं की। 'स्वार्थ' के सम्पादक हुए हैं – श्रीयुत अध्यापक (प्रोफेसर) जीवनशंकर याज्ञिक एम.ए. एल. एल.बी.। हिन्दी-पाठकों में से बहुतों ने क्या प्रायः सभी ने, याज्ञिक महोदय का नाम हिन्दी-लेखक के नाते इससे पहले कभी न सुना होगा। न सुनें, ज्ञानमण्डल इस बात की परवा करने वालों में नहीं है, उसने याज्ञिकजी को अपने 'स्वार्थ' का सम्पादक बनाकर गुणग्राहकता का असाधारण परिचय दिया है। याज्ञिकजी हिन्दी-लेखक की हैसियत से प्रसिद्ध भले ही न हों, विद्वान ग्रेजुएट तो हैं। वह एम.ए. हैं, एल.एल.बी. हैं फिर प्रोफेसर हैं (सो भी काशी के हिन्दू कालेज में) इतने पर भी क्या वह हिन्दी न जानेंगे, पत्र का सम्पादन न कर सकेंगे। जैसाकि पहले निवेदन किया जा चुका है, हिन्दी के पुराने लेखकों और हमारे नये ग्रेजुएटों में जो नहीं पटती, इसका कारण पुराने लेखकों की वही अहम्मन्यता या भ्रांतिमूलक यह धारणा कि ग्रेजुएटों को हिन्दी लिखनी नहीं आती है। हिन्दी-पत्रों के पुराने टाइप के सम्पादक बाहर से आये लेखों में मनमाना परिवर्तन कर डालते हैं, कोई-कोई सम्पादक पुंगव तो सारे लेखों को अपने ही साँचे में ढाल देते हैं, लेखकों का नाम उड़ा दिया जाय तो 'स्टाइल' की नब्ज पहचानने वाला परीक्षक-पाठक यही समझे कि सब लेख एक ही कलम से निकले हैं, दूसरे सम्पादक ऐसा तो नहीं करते कि लेख का इस प्रकार कायाकल्प कर डालें, पर वह भी अपने सम्पादकीय अधिकार का उपयोग करने में नहीं चूकते, वह इस बात का ध्यान अवश्य रखते हैं कि उनके पत्र में कोई वाक्य व्याकरणविरुद्ध न निकल जाय, महावरे का कोई फ़ाश ग़लती न रह जाय, शब्द साधु रूप में लिखे जायं, भाषा में ठेठ प्रान्तीयता न आने पावे, भाषा गुट्ठल न हो जाय, क्योंकि भाषा भावों को समझाने के लिए होती है, शब्दों के परदे में भावों को छिपाने के लिए नहीं, इत्यादि भावों से प्रेरित होकर सम्पादक लोग प्राप्त लेखों में जहाँ-तहाँ काट-छाँट कर डालते हैं, ऐसी काट-छाँट या कतर-ब्यौंत अक्सर नवीन लेखकों के लेखों में बहुत हुआ करती है, कभी-कभी तो वह अपने सम्पादकीय अधिकार का 'दुरुपयोग' यहाँ तक कर डालते हैं कि हज़रत 'अकबर' की यह उक्ति पूरी तरह चरितार्थ हो जाती है –

"कह दिया था उनसे कट जायें जो नाकिस शेर हों।
यह नतीजा था कि कुल दीवान रुख़सत हो गया॥"

यह दशा हमारे नवीन ग्रेजुएट लेखकों को असह्य हो जाती है, वह इसे अपने साथ अन्याय, अपना अपमान, अशिष्ट व्यवहार, सम्पादकों का कुसंस्कार और 'टालरेशन' का अभाव समझते हैं। वास्तव में बात भी कुछ ऐसी ही है, हमारे यहाँ पुराने ख्याल के लोगों में 'टालरेशन' है ही नहीं, टालरेशन के अभाव का कौतूहलजनक तमाशा किसी को देखना हो तो वह पण्डितों का शास्त्रार्थ सुने, संस्कृत-विद्यार्थियों को आपस में बातचीत करते देखे, कोई अशुद्ध शब्द किसी

के मुँह से निकला नहीं कि 'कथमेतत्', 'इदं न भवति', 'असाधुरयं शब्दः', अशुद्धमेतत्' की झड़ी लग जाती है, कभी-कभी हाथापाई तक शुरू हो जाती है, दो पण्डितों या विद्यार्थियों का 'वाग्युद्ध' श्रोताओं को हिम्मत हारकर भागने पर मजबूर कर देता है, उधर अंगरेजी पढ़े-लिखों की दशा इससे सर्वथा विपरीत है, अंगरेज़ी बोलने में उनसे भी अशुद्धियाँ होती हैं और संस्कृत बोलने वालों की अपेक्षा कम नहीं होतीं, पर वहां इस बात का नोटिस लेना – अशुद्ध शब्द पर किसी को टोकना – सभ्यता के विरुद्ध समझा जाता है। बोलने वाले की 'इनसल्ट' करना समझा जाता है, मतलब यह कि संस्कृत के पण्डितों की तरह, हिन्दी के पुराने लेखकों में भी 'टालरेशन' नहीं है, उनका यह भाव या टालरेशन का अभाव हिन्दी लिखने की लालसा रखने वालों के हौसले पस्त करता रहता है। लिखने की प्रबल इच्छा रखते हुए भी हिन्दी लिखने की हिम्मत नहीं पड़ती, 'ज्ञानमण्डल' का 'स्वार्थ' इस अभाव की पूर्ति करेगा, वह ग्रेजुएटों का हिन्दी लिखने में हौसला बढ़ायेगा, क्योंकि उसके सम्पादक टालरेशन के सभ्यभाव से सम्पन्न एक सुयोग्य ग्रेजुएट हैं, वह अपने सम्पादकीय अधिकार का दुरुपयोग करके – प्राप्त लेखों में काट-छाँट करके – अपने विद्वान लेखकों को नाराज़ न करेंगे, जो लेखक जिस रूप में लेख लिख-लिख भेजेगा, उसे उसी रूप में, अपनी ओर से रेखा-बिन्दु का विपर्यास किये बिना 'स्वार्थ' में स्थान मिलेगा, इसका उदाहरण 'हलचल' शब्द, पुराने लेखकों के मत में स्त्रीलिंग है, यहाँ तक कि स्वयं 'स्वार्थ'-सम्पादक नवीन विचार के ग्रेजुएट होकर भी उसे स्त्रीलिंग ही समझते हैं, उन्होंने इस शब्द का प्रयोग दो बार स्त्रीलिंग में ही किया है – "एक देश में किसी प्रकार की हलचल मचती है" (पृ.3), "हलचल सभी देशों में मच रही है।" (पृ.6), पर 'स्वार्थ' के इसी अंक में एक दूसरे ग्रेजुएट लेखक ने इसी शब्द का प्रयोग, ठेठ पुल्लिग में किया है – "बाज़ारों में जितना हलचल बड़े-बड़े कारखानेवालों के मर जाने से मचेगा कदाचित् उतना राजाओं के मरने से नहीं मचेगा।" – (धन का बँटवारा – पृ. 11)। कोई पुराने विचार का सम्पादक होता तो अपने अधिकार का प्रयोग करके झट पुल्लिग का स्त्रीलिंग बना डालता, अपने इस व्यवहार से अपने एक ग्रेजुएट लेखक को हतोत्साह और नाराज करके अपने पत्र और हिन्दी के विद्वान और हिन्दी के एक होनहार लेखक की बहुमूल्य सहायता से वंचित कर डालता, पर 'स्वार्थ' के 'सहिष्णु' सम्पादक इस लिंगव्यत्यय को सह गये, आखिर न सहते तो करते क्या ? 'धन का बँटवारा' लेख के लेखक ने तो कई जगह ऐसा लिंगव्यत्यय किया है, स्त्रीलिंग को पुल्लिग बनाकर 'शिखण्डिनी' का 'शिखण्डी' बनाया है, "बहुतों से लोगों ने मोर महोदय के कल्याण को भी सुना" – "स्वास्थ्य तथा जन्म की विशिष्टताओं के लिए..."(पृ. 8), "मनुष्य समाज के अन्य-अन्य संस्थानों के साथ ही साथ..." (पृ.9), "उसके सबसे बुरी वासना में फँस गये हैं" – (पृ.15), फिर यही नहीं कि यह लिंगव्यत्यय सर्वत्र पुल्लिग के रूप में हुआ हो, इसके विरुद्ध भी हुआ है – "मनुष्य सम्पत्ति के लालच में पड़ा है" – (पृ11), मतलब यह कि यह लेखक महाशय पूरी तरह 'लिंगव्यत्यय' के लालच में पड़े हैं। 'व्यत्ययो बहुलम्' के लोभ को वह किसी तरह संवरण नहीं कर सके हैं। स्वार्थ-सम्पादक की यह सहिष्णुता 'सराहनीय' है कि उन्होंने सर्वत्र 'टालरेशन' का दृढ़ परिचय दिया है, कहीं भी हस्तक्षेप

या सम्पादकीय अधिकार का 'दुरुपयोग' नहीं किया। "लेखकों का दिल बढ़ाना कोई इन से सीख जाय।"

हिन्दी भाषा हमारे ग्रेजुएट विद्वानों के मत से अभी बन रही है, इस दशा में अभी से उसके पैरों में व्याकरण की बेड़ी डालना उचित नहीं है, जब भाषा बन चुकेगी, तब उसके नियम भी निर्धारित हो जायेंगे, लिंग-निर्णय भी हो जायेगा, समय पर सब-कुछ हो जायेगा, अभी उसे बनने तो दो, शायद इस विचार से भी स्वार्थ-सम्पादक ऐसी-वैसी बातों पर ध्यान देना उचित नहीं समझते, है भी ठीक, मतलब से मतलब, 'अत्युक्ति' न कहा 'अत्योक्ति' कह दिया! "रोटी के लाले पड़ रहे हैं" की जगह "भरपेट भोजन मिलने के लाले पड़ रहे हैं" कहने में क्या हर्ज़ है! पुराने ख्याल के लोग कहेंगे कि 'महावरा' बिगड़ गया पर स्वार्थ-सम्पादक कहेंगे कि कोई परवाह नहीं, मतलब तो साफ हो गया! शब्दों के फेर में पड़कर मतलब को हाथ से न जाने देना चाहिए। इसमें प्रमाण –

'अर्थरि प्रयोजनं नतु शब्दरि!'

अस्तु, स्वार्थ-सम्पादक के शब्दों में हम भी कह सकते हैं कि "हिन्दी में स्वार्थ अपने ढंग का पहला ही पत्र है।" पहले तो इसका नाम ही निराले ढंग का है, (यही क्यों, ज्ञानमण्डल के नाम अक्सर ऐसे ही होते है) परमार्थ-प्रवण भारत में – खासकर हिन्दू-समाज में स्वार्थ के नाम से घृणा करते हैं, यह किसी भले आदमी को 'स्वार्थ' कह दिया जाय तो वह इसे गाली समझेगा। फिर परमार्थ प्रसविनीकाशी से 'स्वार्थ' का जन्म, काबे से कुफ्र उठने के समान समझा जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं, ताज्जुब है कि जहाँ परमार्थ-दर्शन के परमाचार्य पाण्डेय रामावतार शर्मा (एम.ए., साहित्याचार्य) रहते हों, वहीं से स्वार्थ भी निकले!

इस बात को स्वार्थ-सम्पादक भी समझते हैं कि इस अटपटे नाम से लोग चौंकेंगे, इसीलिए उन्होंने 7 पृष्ठों का अग्रलेख लिखकर 'स्वार्थ' का स्वरूप समझाने की खूब चेष्टा की है, आपने अर्थशास्त्र की कुछ व्यापक व्याख्या करके लिखा है – "तो यहाँ स्वार्थ शब्द का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से है" पर कहीं इस वाक्य का अर्थ पाठक यह न समझ जायें कि 'स्वार्थ' अर्थशास्त्र का पर्याय है या स्वार्थ का सम्बन्ध अकेले अर्थशास्त्र से ही है, उन्होंने इस वाक्य की भी व्याख्या की है क्योंकि वह नहीं चाहते कि 'स्वार्थ' का केवल इतना ही अर्थ समझा जाय, ऐसा समझने से स्वार्थ के टाइटिल पेज की संगति न मिलेगी, टाइटिल पेज पर 'स्वार्थ' के ठीक नीचे जो यह लिखा है – "अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति तथा इतिहास का मासिक पत्र" – इसका समन्वय न होगा। अर्थात् अर्थशास्त्र तो 'स्वार्थमय' है ही, समाजशास्त्र, राजनीति तथा इतिहास में भी स्वार्थ छिपा पड़ा है, उसे ढूँढ़ निकालना ही 'स्वार्थ' का उद्देश है। इसलिए 'स्वार्थ' का लोकप्रसिद्ध अर्थ बतलाकर कहते हैं – "परन्तु यहाँ इस शब्द का तात्पर्य कुछ और ही है" – इस अनिर्वचनीय से वाक्य की फिर आगे व्याख्या की गई है, सो भी सुन लीजिए – "स्वार्थ जैसे किसी व्यक्ति का होता है, उसी प्रकार समाज वा देश का भी होता है, यह हम सहज में समझ सकते हैं कि हमारी हानि और हमारा लाभ किस बात में है, दूसरे को वह हितकर हो वा अहितकर।" इसी प्रकार सब देशों का हितसाधन एक ही बात में नहीं हो सकता – "फिर यदि भारतवर्ष का भी कोई स्वार्थ हो तो उसमें हिचकने की कौन-सी बात है? (यानी कुछ नहीं)

अतएव साधारण अर्थ में भी 'स्वार्थ' देश या जाति का स्वार्थ कोई वस्तु हो सकती है।" – इसके आगे आप कहते हैं कि अब यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 'स्वार्थ' हमको स्वार्थी नहीं बनाना चाहता है,दूसरा यह कि वह हमें इस विशेष दशा में – जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है – स्वार्थी बनाना चाहता है और यह कोई हिचकने की बात नहीं है। इसी प्रसंग के अगले इन वाक्यों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उक्त वाक्य के उपर्युक्त दोनों अर्थ समझ लेना असंगत नहीं है,लेखक को दोनों ही अर्थ विवक्षित हैं। अर्थात् स्वार्थ और परमार्थ एक ही चीज़ हैं दो नहीं,"देश-सेवा और आत्मत्याग से हमारा स्वार्थ-साधन होसकता है।" "और दूसरी ओर व्यक्तियों के कुशल और धन सम्पन्न होने से ही देश धन-सम्पन्न हो सकता है।" – इन वाक्यों का यदि इस प्रकार 'निगमन' निकाल दिया जाय तो बात साफ हो जाय कि देश-सेवा और आत्मत्याग द्वारा जो स्वार्थसाधन किया जाता है, उसे ही 'परमार्थ' भी कहते हैं और व्यक्तियों की कुशलता और धन-सम्पन्नता द्वारा देश को धन-सम्पन्न बनाना (लोक-दृष्टि में) 'स्वार्थ' कहलाता है,मतलब यह है कि स्वार्थ और परमार्थ में वास्तविक भेद नहीं है,उद्देश एक ही है,नाम और कार्यक्रम में थोड़ा-सा भेद है,मानो एक लक्ष्य पर पहुँचने की दो पगडंडियाँ हैं – "येनेष्टं तेन गम्याताम्।" हम समझते हैं (अगर समझने में गलती नहीं करते) यही बात स्वार्थ-सम्पादक ने अपने पुख्ता रंग और खास ढंग में कही है,या कहनी चाही है,यदि यह बात नहीं है,तो भी कुछ हर्ज नहीं,स्वार्थ-सम्पादक कह ही चुके हैं,कि "यहाँ इस शब्द का (स्वार्थ का) तात्पर्य कुछ और ही है।" अर्थात् निगूढ़ है,अनिर्वचनीय है,वाणी का विषय नहीं,कुछ कहने की बात नहीं।

'स्वार्थ' व्यक्ति और जाति के स्वार्थ में भेद न मानता हुआ भी (यदि स्वार्थ के तात्पर्य को अनिवर्चनीय न मानकर ऊपर की गई व्याख्या ठीक मान ली जाय) देश और जाति के लाभ पर व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के लाभ को तर्जीह देता है,इस प्रकार वह परमार्थ पक्ष का नहीं, अपने नाम के अनुसार 'स्वार्थ' पक्ष का अनुगामी है। नाकाबंदी शायद Protection का अनुवाद है,सर्वसाधारण की – जिनमें कुछ अर्थशास्त्री भी हैं – धारणा कि देश का अन्न देश में रहने से ही देश का लाभ है,जब देश का अन्न देश में ही रहता था,तब यहाँ इतने व्यापक अकाल नहीं पड़ते थे,अन्न सस्ता रहने से सब सुखी रहते थे,पर अब यद्यपि अन्न पहले की अपेक्षा अधिक पैदा होता है,एक अर्थशास्त्री के मतानुसार इतना अधिक कि यदि अन्न का बाहर भेजना बंद कर दिया जाय तो एक वर्ष की उपज तीन वर्ष के लिए काफ़ी हो,पर आजकल फसल के दिनों में भी अन्न सस्ता नहीं होता,महँगी दिन-दिन बढ़ती ही जाती है,अन्न का बाहर भेजना बंद कर दिया जाय तो एक वर्ष की उपज तीन वर्ष के लिए काफी हो,पर आजकल फसल के दिनों में भी अन्न सस्ता नहीं होता,भारत-हितैषी बराबर चिल्लाते आ रहे हैं,जबकि गवर्नमेंट ने – चाहे कितने मसलहत से सही अन्न के बाहर जाने में कानून बनाकर एक प्रतिबंध या नाकाबंदी को भारत के स्वार्थ का विधातक समझते हैं,इससे आपकी राय में किसानों के साथ अन्याय होगा,क्योंकि वह अन्न बेचकर पूरा लाभ न उठा सकेंगे,अन्न बाहर न जायेगा, तो उन्हें यहाँ सस्ता बेचना पड़ेगा। अन्न सस्ता होने से जो देश की प्रजा को – करोड़ों भूखों को – जो लाभ होगा,मानो उसका किसानों से कुछ सम्बन्ध नहीं है,"देशसेवा और आत्मत्याग से हमारा स्वार्थसाधन हो सकता है।" स्वार्थसाधन का यह नियम किसानों पर 'लागू' नहीं है, किसान इस नियम का अपवाद है! यानी किसान इससे मुस्तसना है! 'आत्मत्याग' और "देश

सेवा' द्वारा 'स्वार्थसाधन' के अधिकारी भारत के दूसरे व्यापारी अर्थशास्त्री अध्यापक या नेता लोग ही हैं।

जो कुछ हो 'स्वार्थ' के अर्थशास्त्र की पहेली सर्वसाधारण की समझ में नहीं आ सकती, अर्थशास्त्री लोग ही अपने शास्त्र के इस चोंचले को समझ सकते हैं, महँगी के मारे बेचारे सर्वसाधारण तो यही कहते हैं कि –

भेजें नाज विदेश को काठ कबाड़ मँगाय।
इस भारी व्यापार की उन्नति कहाँ समाय॥

'स्वार्थ' के अंक में कुल मिलाकर 9 लेख हैं जो 'कुल मिलाकर' अच्छे हैं, लेख और लेखकों के नाम इस प्रकार हैं –

1. स्वार्थ-सम्पादक
2. धन का बँटवारा, श्रीयुत श्रीप्रकाश, बी.ए., एल.एल.बी. (केम्ब्रिज) बार - एटला।
3. भारत के आर्थिक इतिहास का दिग्दर्शन, अध्यापक गंगाप्रसाद मेहता, एम.ए.।
4. शक्कर का व्यापार, पण्डित बदरीनाथ भट्ट, बी.ए.।
5. अंकशास्त्र की प्रस्तावना, अध्यापक मोहनसिंह मेहता एम.ए., एल .एल.बी.।
6. प्रजावाद, अध्यापक पीताम्बरदत्त पाण्डेय, बी.ए.।
7. पुस्तकावलोकन, सम्पादक।
8. सम्पादकीय।
9. ज्ञातव्य विषय तथा अंक।

सभी लेख सुयोग्य विद्वानों के लिखे हुए हैं, पठन और मनन करने योग्य हैं, पर इनमें से कई विषय हिन्दी में अभी नये हैं, विद्वत्ता के भार से कुछ दबे हैं, इसलिए हिन्दी के सुकुमारमति पाठकों को उलझन मालूम हो तो ताज्जुब नहीं, पर जब वह भट्ट जी के व्यापार का मज़ा लेंगे, तो सब थकावट दूर हो जायगी, आगरे के सोहन हलवे, मथुरा के पेड़े, सूरत की बरफी, अहमदाबाद की सिखरन, जयपुर के कलाकंद, अजमेर की मेवामिश्री का जिक्रे खैर मुँह मीठा कर देगा, तबीयत खुश हो जायेगी, विषय भी मीठा और भाषा भी मधुर, गोया 'कन्दे-मुकर्रर' है।

'स्वार्थ' की छपाई साफ़ और सुथरी है, कागज बढ़िया, ऐन्टिक मूल्य है, वार्षिक मूल्य 4 ॥) अर्धवार्षिक 2 ॥) प्रतिसंख्या ॥)

पता – 'ज्ञानमण्डल', गुरुधाम, काशी।

अन्त में परमात्मा से प्रार्थना है कि – "सर्वः 'स्वार्थ समीहताम्' ज्ञानमण्डल के संचालक और स्वार्थ-सम्पादक से निवेदन है कि 'स्वार्थ' के नीचे यह माघ का प्रसिद्ध वाक्य (मोटो) रखें तो जरा अच्छा मालूम दे – 'स्वः 'स्वार्थ समीहते' – समालोचक

(प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : दिसम्बर, 1919 ई.)

परिशिष्ट

पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का संक्षिप्त जीवन-वृत्त

गुलेरी जी का जन्म 7 जुलाई 1883 ई. को जयपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम पंडित शिवराम शास्त्री था। शास्त्री जी जयपुर के महाराजा रामसिंह के राज-पंडित थे। मां लक्ष्मी देवी भी विदुषी थीं। महामहोपाध्याय पं. शिवराम शास्त्री मूलतः कांगड़ा क्षेत्र के गुलेर नामक गांव के रहने वाले थे।

पं. शिवराम शास्त्री के परिवार में संस्कृत-ज्ञान एवं वैदुष्य का वातावरण था। रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचरण पर परम्परा एवं कर्मकाण्ड का भरपूर प्रभाव था। बचपन में ही बालक चन्द्रधर ने अष्टाध्यायी के अनेक अध्यायों को कंठस्थ कर लिया। अमरकोश पूरा। धाराप्रवाह संस्कृत बोलने में पारंगत हो गया। संस्कृत घर की विद्या जो ठहरी।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने महाराजा कालेज जयपुर में अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने 1899 ई. में इलाहाबाद से प्रथम श्रेणी में एन्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण की। 1901 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय से अंग्रेजी, ग्रीक, संस्कृत, विज्ञान, गणित, इतिहास, तर्कशास्त्र, विषयों में एफ.ए. किया। 1902 ई. में वे जयपुर वेधशाला में नियुक्त हुए। कर्नल सर स्विंटन और कैप्टन ए.एफ. गैरट के साथ जयपुर वेधशाला के महत्व और उसके इतिहास पर एक विद्वतापूर्ण ग्रन्थ की रचना की। 1903 ई. में "समालोचक" पत्रिका के सम्पादक का भार सम्भाला। प्रयाग विश्वविद्यालय से बी.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। 1904 ई. में मेयो कालेज अजमेर में अध्यापक नियुक्त हुए। प्रसिद्ध कहानी "उसने कहा था" का प्रकाशन 1915 ई. में हुआ। 1916 ई. में उसी कालेज में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हुए। 1920 ई. में नागरीप्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक-मण्डल के सदस्य बने। "पुरानी हिन्दी" में संकलित अपभ्रंश विषयक लेख 1921 ई. में प्रकाशित हुए। 11 फरवरी 1922 ई. को काशी विश्वविद्यालय के प्राच्य विभाग में "मनीन्द्रचन्द्र नन्दी पीठ" पर प्रोफेसर नियुक्त हुए।

1922 ई. की, अपेक्षाकृत, अल्प आयु में ही काशी में देहान्त हुआ।

गुलेरी जी का विवाह 1899 ई. में पद्मावती देवी से हुआ था। चार सन्तानें हुईं। दो पुत्र योगेश्वर, शक्तिधर। दो पुत्रियां – विजया और अदिति।


Compiled
1999-2000
199

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (1883-1922) हिंदी में अपनी अमर कहानी "उसने कहा था" और "कछुआ धरम" तथा "मारेसि मोहिं कुठाऊँ" जैसे अनूठे ललित निबंधों के लिए प्रसिद्ध हैं। वे संस्कृत के उन उद्भट विद्वानों में से हैं जो विचारों में आधुनिक थे और धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं में अपने समय से बहुत आगे थे। उन्होंने इतिहास, पुरातत्व, धर्म, दर्शन, भाषा विज्ञान, व्याकरण आदि ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में शोधपूर्ण गंभीर निबंध लिखे हैं। ये रचनाएँ अब दो खंडों में प्रकाशित "गुलेरी रचनावली" में सुलभ हैं।

संपादक, विश्वनाथ त्रिपाठी (जन्म : 1933) दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से लगभग तीन दशकों तक संबद्ध रहने के बाद गतवर्ष सेवा-निवृत्त हुए हैं। उन्हें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ सुप्रसिद्ध अपभ्रंश काव्य 'सन्देश रासक' के संपादन का गौरव प्राप्त है। इनकी प्रकाशित रचनाओं में 'हिंदी आलोचना', 'प्रारंभिक अवधी', 'लोकवादी तुलसीदास', 'मीरा का काव्य' और 'देश के इस दौर में' आलोचना ग्रंथों के अतिरिक्त 'जैसा कह सका' नामक कविता-संग्रह उल्लेखनीय हैं।

इस पुस्तकमाला के प्रधान संपादक नामवर सिंह (जन्म : 1927) हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष हैं। वे लगभग दो दशकों तक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्रोफेसर रहे और पच्चीस वर्षों तक उन्होंने 'आलोचना' पत्रिका का संपादन किया। प्रकाशित पुस्तकें एक दर्जन से ऊपर हैं जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : 'इतिहास और आलोचना', 'कविता के नये प्रतिमान', 'छायावाद', 'कहानी : नई कहानी' और 'दूसरी परंपरा की खोज'।



रु. 33.00

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया